

कल्पवृक्ष

शत्रुघ्नलाल 'शुक्ल'

हिन्दी सेवा सदन, मथुरा

“बस !”

“क्या ?”

“बस अब रुकेंगे ।” कहकर आगे चल रहे अश्वारोही ने घोड़े की रास खींची । मबेन पाकर घोड़ा ठहर गया । अश्वारोही ने उसकी गर्दन थपथपाकर एक लम्बी साँस छोड़ी, फिर पीछे घूमकर अपने साथी की ओर देखा — “हम और घोड़े दोनों थक गए हैं । उतर पड़ो, रात बिताकर सबेरे चलेंगे ।” और बाबयान्न के साथ ही घोड़े में उतर पड़ा ।

साथी बदायित् अभी कुछ दूर और आगे तक चलने की सोच रहा था, इसलिए एक क्षण टिठका, किन्तु मित्र की कानूनि की समझ का उमने भी अपने घोड़े की गर्दन थपथपाई और उतर पड़ा ।

दोनों घोड़े भार मुक्त होकर एक साथ हिनहिनाये, फिर बबान्न दूर चरन के लिए एघर-उघर टहलने लगे ।

दुमरे अश्वारोही ने, जो अनेकाहुत अधिक स्फूर्ति और मधेन था, अपने साथी का कन्धा छूँट गए, पूछा — “हम बियाबान में नींद था जाएगी ?”

प्रकाशक : हिन्दी सेवा सदन, मथुरा
सर्वाधिकार, प्रकाशकाधीन

मूल्य : तीन रुपये पचास पैसे

प्रकाशनकाल : जनवरी १९६८

आवरण शिल्पी : शालिन्कु

मुद्रक : के० डी० कम्पोजिंग एजेन्सो द्वारा
अजय प्रिंटर्स, नवीन
शाहादरा, दिल्ली-३२

KALPVRIKSH : Növtel
trughna Lal Shukla

Rs. 3.

देवता है ।”

मग्न संबोधित होने वाले ध्वजगोरी ने ध्वजा गाथा गाते हुए इस-उस दृष्टि फेंकी; जैसे निद्रियत बर रहा हो—स्थान उपरुप घोर निराद है न ?

उमरा मारी, जो कुछ प्रोइ था, दोनों पोंछों की बागदोर एक में बाँधकर लम्बी करने लगा ।

मर्यादा जा पुरी थी । उमरा स्थान रात्रि-रमणी ने ने मिया था घोर घषनार की कानों पताका पहनती हुई अपने मानक माम्राज्य का विस्तार कर रही थी । घगिल मृष्टि जैसे मयभीत हो गई थी—नीरव, निस्पन्द; मानो, निष्प्राण हो । सर्वत्र एक गेमचकारी दून्यता व्याप्त थी—वह दून्यता, त्रिगके मध्य विमी क्षण, विमी घषटिन घटना की घासका निहित रहती है ।

गूर्यान्त के सगभय जिन पक्षियों ने मारे वायुमंडल को अपने कलखों से गुंजा दिया था, वे हम समय अपने-अपने नीहों में दुबके पड़े थे । वायु भी मन्द हो चली थी । घासेटक घोर कृष्ण समुदाय दिन-भर के थम से परास्त होकर अपने-अपने घरों में चुपचाप सोने का उपव्रम कर रहे थे । वृक्ष भी झूमना बन्द करके अपने महज स्वाभाविक रूप में जड़वत् सर्वथा शान्त-मौन लड़े थे । चातुदिक एक ऐसी निद्रियता, नीरव कलान्ति छाई हुई थी कि सोजने पर भी चेतना घोर जागृति का चिन्ह मिलना कठिन था । हाँ, कुछ निशापक्षी घोर वनजन्तु इसके अघवाद थे । वस्तुतः वे अन्धाकर-माम्राज्य के प्रहरी थे और इस नाते अपने कर्तव्य-पालन का प्रमाण देने हेतु कभी-कभी अस्वाभाविक रूप में चीत्कार करके वायुमंडल को कंपित कर देते थे ।

रात्रि का पहला पहर था और कृष्ण पक्ष की अष्टमी । चन्द्रमा का कोई चिन्ह न था । आकाश में अनगिनत तारे भिन्नभिन्न रहे

थे; किन्तु उनके संयुक्त प्रकाश का अस्तित्व भी व्यर्थ था। घना-
 लोक में फैला हुआ अघकार उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। उसकी
 गहनता, घोर भयकरता की वृद्धि होकर वायु घोर भी मन्द होने
 लगी थी। भय का प्रभाव निष्क्रियताकारी होता है। जैसे मानव से
 मानव मीत होता है, वैसे ही प्रकृति से प्रकृति भी। उस समय
 अघकार का विरोध करने की शक्ति किसी में भी न थी। जड़
 घोर चेतन सब पराजय की अवगाह पीड़ा से व्याकुल थे।
 निःशक्ति होकर मिर घुमने हुए, अघना अस्तित्व उस अमेष
 अघकार में विलीन करने जा रहे थे। कहाँ क्या है, इसका कोई
 सबेन तक नहीं ज्ञान हो रहा था। चारों घोर काने कुहाने की
 भीति छाया हुआ एकमात्र अघकार, बस।

अब तक मगल साफ़ खीन चुका था। उसने अपने साथी से
 पूछा — “शभू ! छोड़ो की नो तुमने अब गम्भी में बाँध दिया,
 अब क्या अपने को भी बाँधोगे ?”

शभू ने उसका परिहास समझा नहीं। पूछा — ‘अपने को
 क्या बाँधना ? दह पेड़ खड़ा है न, खलो उमो के नीचे गोरेने ।’

“पेड़ के नीचे ? यही मैदान में सोखो भाई। वहाँ कोई जीव
 जन्तु भी नो हो सकना है। यही खली इबा है। साथी गन के
 बाद चन्द्रमा भी उदय हो जाणगा।

शभू ने उसे अद्वयन किया — ‘बिना न बरों। वह स्थान
 निरापद है। गुप्त की नींद आणगी।’

“ऐसे घने अंधरे में, बिना भली-भाँति दग्ने-समझे, तुम इस
 जगमग को निरापद कैसे कह रहे हो ? क्या पता उस पेड़ के नीचे
 गीप की दाँबी हो, तब ?”

घरे नहीं भाई, इतना क्यों डरने हो ? वहाँ गाप दा दाँबी
 कुछ नहीं है। वह देवस्थान है। गाप में एक द्वार मेला सपना

है, जिसमें दूर-दूर के यात्री दर्शन करने आते हैं।”

“किसका दर्शन ?” मंगल चकित हुआ।

“कल्पवृक्ष का।”

“कल्पवृक्ष !!”

“हाँ, इस पेड़ को कल्पवृक्ष कहते हैं। तुमने नहीं सुना ? यह तो सारे भारत में प्रसिद्ध है।”

“कथावाचकों के मुँह से किसी कल्पवृक्ष का नाम सुना था, जो मुँह माँगी वस्तुयें देता है। लेकिन वह कहाँ है, इसका पता कोई नहीं जानता। क्या यह वही कल्पवृक्ष है ?” मंगल के स्वर में जिज्ञासा-भाव प्रबल हो उठा था।

“वह नहीं यह दूसरा कल्पवृक्ष है।”

“तुमने दिन में कभी देखा है ?”

“कई बार। रात बीतने दो, सवेरे देखकर तुम भी चकित रह जाओगे।”

“अच्छा ! ऐसी कौन सी बात है इसमें ?”

“वह अपनी आँखों से देखना।”

“फिर भी कुछ तो बताओ।”

“यह वृक्ष कितना पुराना है, ठीक नहीं कहा जा सकता। कदाचित् कई युग पुराना है, इसी से इसको कल्प-वृक्ष कहते हैं। इसमें एक गुण यह है कि इसकी एक भी डाल टूटी-फटी नहीं। बढ़ते-बढ़ते आज यह इतना बड़ा हो गया है कि दूर से भी यगीचे का भ्रम हो जाता है।”

“अद्भुत वृक्ष है।”

नीचे एक बड़ा-सा घबूतरा है। शरद पूर्णिमा को भूजन होता है और तीन दिनों तक इस सारे मैदान भारी मेला लगता है कि देखकर जान पड़ता है—काशी

अथोष्या जैसा कोई नगर है।”

मंगल का आश्चर्य मुक्त भाव से सोचना रहा—इतना अद्भुत प्रसिद्ध स्थान मैंने आज तक देखा ही नहीं। चलो, अच्छा हुआ कि आज यात्रा में देर हो गई; एक विचित्र और दुर्लभ स्थान को देख लूंगा।

शम्भू ने कहा—“चनो चने।” और पोंडो की रास पकड़कर मामने की ओर चल पड़ा।

बौतूहलप्रस्त मंगल ने फिर कोई प्रतिवाद नहीं किया। वह भी उसके पीछे-पीछे चलने लगा।

अधकार के कारण शम्भू को भ्रम हो गया था। उसने वृक्ष जिनका समीप जानकर छोटे गोक दिये थे, वस्तुतः वह उसमें दूर था। लगभग पाँच-सौ पग चलना पड़ा तब दोनों उसके छाया-क्षेत्र में पहुँचे।

शम्भू कई बार उधर था जा चूका था, इसलिए उसे कोई बौतूहल न था। उसने गहन भाव से पोंडो की रास एक हाथ में बाँध ही ओर पैरों से टटोलकर एक समतल जगह माफ़ा बिछा दिया। वह बहुत थक गया था। विश्राम की इच्छा में हाथ-पैर ढीले कर दिये और एक मझी मौस छोड़कर—जैसे, कोई भार उतारकर चलन गम दिया हो—बैठ रहा।

मंगल भी बैठ रहा, किन्तु वह शम्भू की भाँति बनावट घातकन नहीं था। मुक्क होने के कारण उसका शरीर अभी तक सख्त और सतेज था। शम्भू आकाश की ओर मुँह किए चित बैठा था। धीरे-धीरे धी धीर मन गर्वदा निर्दुन्दु-निश्चिन्त। इन्द्रियों को विश्राम देने के लिए वह इनने शांत भाव में पड़ा था, जैसे कोई रात हो। किन्तु मंगल की मनस्विता हमसे मिसी थी। उसका मस्तिष्क न जाने किस ज्ञान-अज्ञान कल्पनाओं में उलझा हुआ था।

उसी धनार वृक्ष की ओर लगी हुई थी, जो अपनी सघ-
 से अंधकार को और भी घटाटोप बना रहा था ।
 दूर कहीं वनैली झाड़ियों के फूल खिले हुए थे । उनकी मुगन्ध
 कभी-कभी वायु के शीतल भोको के साथ आकर दोनों यात्रियों
 पाये-जैसा दे रही थी । छोड़े डाल से बंधे अपनी लगाम चबा
 थे । कभी-कभी उनकी कड़कड़ाहट वातावरण की नीरवता
 कर देती थी । इसी प्रकार कभी कोई जुगुनू क्षण-भर के लिए
 मक कर रात्रि के प्रति अपने बिद्रोह की घोषणा कर जाता था ।
 और इन सब को शान्त रहने के लिए कभी-कभी अंधकार का
 तिनिकि कोई निशापक्षी पल फड़फड़ाकर अपने वर्णकलुस्वर में
 आवधान कर जाता था ।

थोड़ी देर बाद शम्भू ने करबट बदली और अलसाये स्वर में
 बोला—“मंगल मैं तो बहुत थक गया हूँ, अब सोऊँगा । तुम भी
 आँखें मूँद लो, नींद आ जाएगी । सबेरे उठकर चल देंगे ।”
 “अच्छी बात है ।” कहकर मंगल ने एक बार घोड़ों की ओर
 देखा और निद्रा के प्रयास में करबट बदल ली ।

शम्भू सोने लगा । छोड़े लगाम चबाते रहे । वायु वनैल
 झाड़ियों के फूलों की मुगन्ध आँचल में भरे उसी प्रकार इधर-उधर
 इठलाती रही । जुगुनू भी रह-रहकर अपने अस्तित्व का प्रमाण
 देते रहे और निशापक्षी पूर्ववत् अपनी आतकमयी घोषणा से उनका
 निषेध करते रहे । लेकिन मंगल की आँखों में नींद नहीं थी ।

वह उसी वृक्ष की ओर देखने हुए सोच रहा था—

इस मैदान में यह अकेला पेड़ कहीं से आया ? इसके आस-
 पास दूसरा पेड़ क्यों नहीं है ? फिर, यह इतना पुराना होकर भी
 कैसे बचा हुआ है ? एक समूचे बाग की कामा खूबने वाला यह
 एकलव्य कल्पवृक्ष है ? क्या किसी देवता से इसका संबंध

है ? पता नहीं, किस जानि का पेड़ है ? मैं तो इधर पहली बार आया हूँ । दिन में देखूँगा । कदाचित् इसली का होगा । भ्राम तो नहीं है, यह निश्चित है । महुभा भी हो सकता है । या फिर बरगद हो । हाँ, बागर ही होगा । और यह मेला ? कल पता लगाऊँगा कि मेला किस देवता के नाम पर लगता है । विचित्र बात है । कल्पवृक्ष ! जब से इसका जन्म हुआ, इसकी एक भी टहनी टूटी नहीं । तब तो अक्षयवट कहना चाहिए । सुनता था, अक्षयवट प्रयाग में है, उसी का भाई हो—सगा या सौतेला, कुटुम्भी ।

मगल इसी प्रकार की कल्पनाओं में लीन, करवटे बदलता रहा । लगभग एक घड़ी बाद वायु के झोंके कुछ अधिक शीतल हो गए थे । मगल को भी भयभीत हो गई । उसने एक लम्बी साँस छोड़कर विचार भ्रमता में विराम लगाया और निरद्वेग भाव से धीमे झुँदकर सोने लगा ।

वन का वातावरण धीरे-धीरे शीतल और सुगन्धमय होता आ रहा था । तीसरा पहर प्रारम्भ होने-होने पूर्णरूप से शान्ति छा गई । अब न जगज्जु घमघमाये थे, न निगापक्षी बोलने थे । जैसे वहाँ कोई प्राणी रहता ही न हो । केवल वायु की लहरें आ रही थी, बस । वह भी नीरव निःशब्द ।

तीसरे पहर के मध्य मगल ने स्वप्न में देखा—

यह विनायकवास्य वृक्ष अचरमात घग्नी में धँस आया है । डालें और पत्तियाँ सब सुप्त हो जानी हैं । उनके अस्तित्व का एक भी चिह्न शेष नहीं रह जाता । दूसरे ताल जहाँ वह वृक्ष घग्नी में समाया था टीक उगी स्थान पर दो व्यक्ति जाते वहाँ से आकर लट्टे लाते जाते हैं । एक स्त्री है, दूसरा पुरुष । दोनों धनि गृन्धर और तेजस्वी प्रजापति हैं । शिन्धु उनके मृत्यु पर एक प्रहार की उदासी अक्षयवाँ पौर की भयभीत है । उनमें शान्तिभाव हो रहा है । स्त्री कहती है—स्वामी

विधाता ने यह क्या किया ?”

पुरुष ने उसका हाथ थाम लिया है और आश्वस्त करते हुए कहता है—“वही, जो उसकी इच्छा थी।”

“आह, कैसी कठोर विडम्बना है !”

“विधाता के पास और है ही क्या ? मात्र अपनी विडम्बना के लिए ही तो वह प्रसिद्ध है।”

“क्या यही न्याय था ?”

“संभव है।”

“आप भी ऐसा कहते हैं !”

“प्रिये ! और अन्याय की परिभाषा सर्वथा काल्पनिक है। इसके बीच कोई अलौकिक सीमा रेखा नहीं है। यह सारी बातें मनुष्यकृत है। उसने अपने हानिलाभ को दृष्टिगत करके ही सारे नियम और विधान बनाये हैं। एक समय जिस कार्य की नीति और न्याय के अन्तर्गत देखता है, दूसरा यदि उससे सामान्वित नहीं हो रहा, तो उसे अनुचित और असंगत बताता है। धर्म-अधर्म, पाप पुण्य और नीति-अनीति यह सब स्वायं के दो रूप हैं। मानव की दृष्टि में ये भिन्न हैं; पर वस्तुतः यह सब एक हैं। इनमें कोई भेद नहीं है।”

स्त्री इस लम्बे-चोटे वकन से कुंठित हो जाती है। वह फिर दृष्टि से आकाश की ओर देखकर कहती है—“फिर भी यदि ईश्वर मुझे कहीं मिले तो मैं उससे पूछूँ—तुमने ऐसा क्यों किया ?”

“उमसे क्या लाभ ? उसे जो करना था, कर चुका। अब जो कुछ है उगी में मंतीप करो।”

“हम त्रेत योनि में मंतीप करें ? क्या वह रहे हैं स्वामी ! वह गरुडमयन का वैभव, और वही वह स्थान ! एक और वह शिवलिंग और उसके लिए हमारी ऐसी अंबर-हस्ता

इती है, जैसे कह रही हो—“हाँ, जानती हूँ।”

इस उत्तर ने पुरुष को आनन्द-विह्वल कर दिया है। वह आँखें
 फुंद कर अलस-तन्द्रित भाव से स्त्री की बेगमराशि पर हाथ फेरने
 लगता है। सहमा न जाने क्यों, एक दीर्घ निःश्वाम छोड़कर कहता
 है—“आह !” और बड़े बेग से स्त्री का मुँह चूम लेता है। फिर,
 एक-दो-तीन—लगातार चुम्बन लेने लगता है। उसके मुख पर
 वासनाजग्य के भाव अंकित हो गए हैं। श्वास-व्रग बंद गया है।
 शरीर अस्वाभाविक रूप से कांपने लगा है। पौरुष उद्दाम हो
 उठा है। पता नहीं अब वह क्या करना चाहता है ? स्त्री को
 उसने बख़्श से बख़्श रखा है। चुम्बन क्रम यथावत् हैं और वह कह
 रहा है—“लालस ! चलो, अपनी समाधि में चलो, यहाँ कोई
 अभाग आकर देख लेगा।”

स्त्री ने मूक स्वर में स्वीकार कर लिया है।

पुरुष एक बार उसकी ठुड्ढी छूता है; फिर उठाकर सिलौने
 की भाँति उछाल देता है। दूसरे क्षण दोनों के अघर संयुक्त हो
 जाते हैं और चपला की भाँति सारा दृश्य लुप्त हो जाता है। अब
 वहाँ न स्त्री है, न पुरुष; न उनकी उपस्थिति का संकेत देने वाला
 कोई चिह्न। वही विशालकाय वृक्ष खड़ा, अन्धकार में अपने को
 लौन करने का प्रयास कर रहा है।

मंगल चीक पड़ा। आँखें खुल गईं। देखा, तो चकित हो
 उठा—ब्राह्म मुहूर्त आ गया है। अष्टमी का चन्द्रमा पश्चिम की
 ओर बढ़ रहा है। उसके प्रकाश ने अन्धकार को परास्त करके
 प्रत्येक वस्तु को स्पष्ट कर दिया है। दाहिनी ओर सो रहा शम्भू
 कदाचि स्वन देख रहा है। कल्पवृक्ष के पत्ते चमक रहे हैं और
 उसकी डाल से बंधे दोनों घोड़े खड़े सो रहे हैं।

जिज्ञासा ने प्रेरणा दी—चलकर देखो तो, कल्पवृक्ष है किस

की ढाल पर बैठी हुई श्यामा ने पुकारा—‘ठाकुरजी! ठाकुर जी।’

घोड़ों की हीम और श्यामा के स्वर ने शंभू की निद्रा भंग कर दी। वह भी उठ बैठा और ‘शिव-शिव’ करके इधर-उधर देखने लगा। मंगल आ गया था। उसने कहा—“चलो भाई, सवेरा हो गया।”

“कहाँ गये थे?” शंभू ने डरकर अंगड़ाई लेते हुए पूछा।

“ऐसे ही टहलने!”

शंभू में अभी कुछ आतश्य था। धीरे से उठा और साफा समेटकर घोड़ों की ओर बढ़ते हुए कहा—“चलो, चलो, अभी बीस कोस चलना है।”

मंगल ने कुछ नहीं कहा। वह स्वप्न की कल्पना में खोया हुआ था।

दोनों ने घोड़े खोले, लगाम लगा कर उनकी पीठ सहलाई और सवार होकर एक ओर को चल पड़े।



मगवान श्री कृष्ण का कुन्दावन स्थित 'मृकुन्द-मन्दिर' । आज
 मगदू दुर्गिमा थी । यह मन्दिर दायिकोत्तर की निम्नतः तिथि थी ।
 प्रति वर्ष आज की रात्रि मन्दिर का वातावरण धराती से वही उठ
 कर स्वर्गपुरी का निर्माण कर देता था । देश के मृदुर भागों से आए
 हुए कृष्णभक्त अपनी-अपनी भावनाओं व्यक्त कर रहे थे । स्त्री और
 पुरुष, बालक और बूढ़ सब आनन्दमान थे । मन्दिर का विमान
 प्रायः रसमय के रूप में सजा हुआ था जिस पर विमान बना-
 बारी के लघु चपला-चपला बोलचाल दिखता रहे था । कृष्ण-रस से
 लेकर उनके हास्य-प्रधान सब की घटनाओं अभिनय रूप में प्रस्तुत
 की जा रही थी । आज पटना का यह कतिपय नहीं, हाथ है,
 और इस सब कृष्ण के गली-गली है ।

वास्तविकता की दृष्टि से मृकुन्द-मन्दिर उत्तर भारत का गौरव-
 है । (मन्त्रों, मन्त्रों, मन्त्रों और वाक्पात्रों के मन्दिर देवे
 हैं वे भी बहन हैं—मृकुन्द-मन्दिर की वाक्पात्र कुछ और ही है । उस
 की विचारित हीनता की मन्त्रीय वीरानिधि द्रव्य बना जाता है ।
 उसके गिणी बितने निगुण रहे होंगे, हास्य अनुमान केवल इनके
 में ही विद्या का ताकता है कि वह मन्दिर सारे भारत में अद्वितीय
 है । इसका अभिनय रूप नहीं होता नहीं गया ।

उत्तर के उत्तर पर उसे विशेष रूप में सजाया गया था ।

बदली स्तम्भ, चन्दनधार और मंगल कनक उसकी शुचिता का घोटन कर रहे थे । चन्दन और अमरु की मुग्ध वातावरण को उत्तरोत्तर मोहक बना रही थी । अभ्रक के पारदर्शी आवरणों के भीतर से झिलमिलाती हुई दीपावलियाँ रंग-विरंगी किरणें प्रसारित कर रही थी । इस प्रकार बाहर से चन्द्रिका के घबल आवरण में लिपटा हुआ मुकुन्द-मंदिर अपने प्रांगण में वैकुण्ठ का दृश्य प्रस्तुत कर रहा था ।

प्रांगण के ठीक सामने की ओर एक विशाल वृक्ष था । उसके बीचो-बीच रत्नजटित सिंहासन पर भगवान् श्रीकृष्ण एवं राधिका की मानवाकार प्रतिमायें सुसज्जित वेशभूषा में खड़ी अपलक नयनों से दर्शकों की ओर निहार रही थी । उनके पार्श्व में अन्य अनेक देवी देवताओं की छोटी बनी मूर्तियाँ स्थापित थी । सभी प्रतिमाएँ मूल्यवान् वस्मारणों से अलंकृत थी । उन पर सुगन्धित पुष्पहार अर्पित थे । समीप ही चौकी पर दीपदान रखा था, जिसकी सहस्र-मुखी दीप-शिखायें नक्षत्रों की भ्रान्ति उत्पन्न कर रही थी । जान पड़ता था—संसार की समस्त शुचिता और शांति यहीं आकर केन्द्रित हो गई है । आमोद और उत्साह का लुप्टिकारी प्रभाव दर्शकों को आत्म-विभोर कर रहा था ।

थोड़ी देर बाद मन्दिर के उत्सव-प्रबन्धक ने घोषणा की—
 भक्तजन ! अब आप लोग शान्त हो जायें । उत्तर भारत की प्रसिद्ध गायिका कामना, भगवान् कृष्ण के सम्मुख अपनी कला का प्रदर्शन करने जा रही है । स्थिरचित्त होकर उसके संगीत का आनन्द लें और देखें कि वह अपनी साधना में कहीं तक सफल हुई है ।’

सर्वत्र-शांति छा गई । सब लोग साँस रोककर मंच की ओर देखने लगे, जो प्रांगण में मूर्तियों के ठीक सामने, नृत्य प्रदर्शन के लिए बनाया गया था । कामना विख्यात नर्तकी थी । बड़े-बड़े राजे-

महागजे उसे गर्व के साथ आमंत्रित करते थे । जनमाधारण को उस का दर्शन दुर्लभ था । आज भदिर में यह मुयोग पाकर दर्शक-मण्डली पुनर्वित हो उठी । उसकी उत्सुकता इतनी प्रबल हो उठी थी, जैसे मूर्तियों से वरदान पाने का आश्वासन मिल गया हो ।

दूसरे क्षण मुन्दरी कामना ने रगमच पर पदार्पण किया । उसके साथ सात व्यक्ति और थे, जो विभिन्न प्रकार के वाद्ययन्त्र लिए हुए थे । वे सब एक निश्चित गति और विराम के साथ—जैसे ध्व-चातित हों—पहले कृष्ण प्रतिमा के समक्ष नतमस्तक हुए, फिर धूमकर दर्शकों का अभिवादन किया और यथास्थान बैठ गए ।

दर्शकों ने कामना को देखा तो देखने ही रह गए । बहुरंगे वस्त्रों से घनकृत अनिष्ट सौन्दर्य की उस जीवन्त प्रतिमा का प्रभाव इतना विमुग्धकारी था कि कोई किसी प्रकार का इमित तक नहीं कर सका । सब जड़वत् बैठे उसे अपलक दृष्टि में देखने लगे । वे निश्चय तक नहीं कर सके कि वास्तव में यह कौन है—मानवी अथवा कि नारी ? सजीव नारी अथवा निजीव प्रतिमा ? यह दृश्य स्वप्न है अथवा व्रण्ड ?

इस भ्रम का, इस अनिश्चय का निराकरण नष्ट हुआ जब वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि के साथ स्वर सगम करके कामना ने आनाप लिया—

“सौम मुकुट तिलक भल-

सोभित प्रभु मुख विसाल ।”

अब, लोगों को विश्वास हुआ—अरे, यह वही कामना है, जिसके विषय में सभी पुजारी जी ने बताया था और वे सतुष्ट-शान्त होकर उसका गीत सुनने लगे ।

मृदंग की धाप और मजरी के मधुरिम रस ने समन्वय करती हुई, मुन्दरी कामना शान्तीय लय-ताल में घावट धुपद गा रही थी ।

उसके पीछा विनिन्दक स्वर-वायुमें नें समस्त वाद्य-उपकरणों को सज्जित कर दिया था । मय के प्रतिस्पर्द्धा के भाव में नहीं, उसके अनुगामी बनकर अपनी अस्तित्व साधक करने के उद्देश्य में ध्वनित हो रहे थे । स्रोतागण मंत्रमुग्ध थे । मधुर संगीत-लहरी वायुमंडल में गूँज रही थी । चतुर्दिक आनन्द की धाराये उमड़ चली थीं । लपटा था—प्रवित विद्व ही संगीतमय हो गया है । मंदिर का कण-कण जैसे प्रतिध्वनित हो रहा था । जड़ और चेतन, सब उसी में तन्मय थे । अनुभूति के लिए मानो संसार में केवल यही आलाप शेष रह गया था—

“सीस मुकुट तिलक भाल,
सोभित प्रभु मुख विसाल ।”

एक के बाद एक करके कामना ने कई गीत सुनाये । दर्शक तृप्त हो गए । संगीत का ऐसा अनुपम आनन्द उन्हें जीवन में आज पहली बार मिला । क्लान्ति और निद्रा न जाने कहाँ चली गई । सारी रात बैठे, कामना के रूप और गीत से तृप्ति साध करते रहे । उस लोकोत्तर मुख के आगे उन्हें किसी प्रकार की दैहिक, भौतिक आवश्यकता विचलित नहीं कर सकी । परम सतुष्ट भाव से संगीत-मुग्ध पीते रहे ।

धीरे-धीरे रात्रि का अंतिम पहर आया और चंद्रदेव अस्ता-चल की सीमा में प्रविष्ट हुए । समय का अनुमान करके पुजारी ने सूचित किया—“अब समारोह समाप्त होना चाहिए; कारण कि ब्राह्म मुहूर्त आ रहा है । पहले विचार था कि कामना एक भैरवी सुनाकर आप सब से विदा लेगी; किन्तु आपकी इच्छा है कि चलते समय उसकी पुत्री लालसा को एक पद सुनाने का अवसर दिया जाय । यद्यपि कुमारी लालसा अभी बालिका है; किन्तु एक गुणवती जननी की संतान होने के नाते, वह भी अपने

प्रयास में सफल होगी, ऐसा मेरा विश्वास है । प्राणा है, उपस्थित जन मनोयोग पूर्वक उस नायिका का गीत सुनाकर, एक नई प्रतिमा को उभरने का अवसर देगे । भगवान् कृष्ण के समक्ष अपना सगीन प्रस्तुत करने को वह बालिका बहुत ही उत्सुक है ।"

"धन्य है! धन्य है!" दर्शक समूह ने करतलध्वनि करते हुए कहा । कामना की सफलता देखकर उसकी पुत्री के प्रति लोगों की जिज्ञासा स्वभावतः जाग उठी । वे उन्मुख-चकित दृष्टि से इधर-उधर देखने लगे कि नर्तकी पुत्री क्या है ? दूसरे क्षण, कामना की द्वादश वर्षीया पुत्री सात्वता मनोरम परिधान में मञ्जिन, किन्ती मन्दार्द्र वन्य की भाँति अपने देदीप्यमान आनन्द की वाति दिवंगती हुई, रगमच पर धा उपस्थित हुई । उसके रूप में एक प्रवाण की धनीकिक-सी शक्ति थी । जिसने भी देखा, निनिमेष लगता रह गया । सात्वता जैसे विद्वत् की लाजसा या मूर्तिमान् रूप थी । उसका जन्म बदाचिन् माधुर्य और नावण्य इन्हीं दो तत्वों में हुआ था । एक-एक अंगसाँचे में इन्ना हुआ था । उसके अन्तः नयना की मादकता उत्तेजनावागी थी । कचन प्रविमा-सी देहदृष्टि मुगधित द्रव्यद धीर अमम्भव और असामान्य आकर्षण लिए वह विचारी सहस्रों में अनुपम थी । सहसा विस्मय नष्ट होता था कि यह साधारण मनुष्य-वन्दा है । दबवाना-सी वाति लिए हुए जब वह मच पर धाई उस प्रभान का जीवन धा गया ।

लाजसा रूपवती होने के साथ ही गुणज्ञ और मन्त्र थी । शास्त्री-नारा का पाठ उसने पढ़ लिया था । जैसे ही निःश्चिन्त निष्कलुष गायन बढ़कर उसने कृष्ण मूर्ति को प्रणाम किया, फिर दर्शक मण्डली को घोर देखकर, माँ के पास धा बैठी । उसकी दृष्टि क्या थी, सम्मोहन का दार था । जिसने भी देखा, जैसे आहत हो गया । 'कितना अवलम्ब रूप है इसका ! इस अग्नि सौदर्य की समता को

देव के भीतर विराट् देव-आधुन के मन्त्र काट-उत्तरों को
 लीला का दिया था। यह के अतिशय के माय में नहीं, उनके
 अनुभवों के साथ साथ अतिशय साधन करने के उद्देश में प्रति
 हो रहे थे। साधारण मनुष्य थे। बहुत मनीष्यता का अनुभव
 के साथ नहीं थे। अतः ही साधारण की साधने उमा चली थी।
 मन्त्र का - अतिशय विचार ही मनीष्यता हो गया है। मन्त्र का
 कर्म-कर्म जैसे अतिशय विचार हो रहा था। यह और चेतन, सब
 साथ ही मन्त्र थे। अनुभूति के लिए मानों मन्त्र में केवल वही
 साधारण ही रह गया था -

भीम मुकुट निराल भाव,
 गोविन्द प्रभु मुन विमान ।”

एक के बाद एक करके कामना ने कई गीत सुनाये। दर्शन
 ही हो गए। मनीष का ऐसा अनुभव मानन्द उन्हें जीवन में साथ
 हनी साथ दिया। कर्मान्ति और निरा न जाने कहीं चली गई।
 ही राग बँडे, कामना के रूप और गीत से तृप्ति लाभ करते रहे।
 । गोकोतर मुन के जाने उन्हें किसी प्रकार की दैहिक, भौ-
 तिकता विचलित नहीं कर सकी। परम संतुष्ट भाव
 अनुभवा सीते रहे।

धीरे-धीरे रात्रि का अन्तिम पहर आया और चन्द्रदेव मस्त

प्रणाम में सफल होगी, ऐमा मेरा विश्वास है। आशा है, उपस्थित जन मनोयोग पूर्वक उस नायिका का गीत सुनाकर, एक नई प्रतिमा को उभरने का अवसर देंगे। भगवान् कृष्ण के समक्ष अपना मगीन प्रभुत्व करने को वह यानिका बहुत ही उत्सुक है।”

“धन्य है! धन्य है!” दर्शक समूह ने वरतनध्वनि करने हुए कहा। वामना की मफलता देखकर उसकी पुत्री के प्रति लोगों की जिज्ञासा स्वभावतः जाग उठी। वे उत्सुक-चकित दृष्टि में इधर-उधर देखने लगे कि नर्तकी पुत्री कहाँ है? दूसरे क्षण, वामना की द्वादश वर्षीया पुत्री लागमा मनोन्म परिधान में गज्जिन, विभी गन्धर्व वन्द्य की भाँति अपने देदीप्यमान ध्यानन्द की कानि धिन्वेरनी हुई, रगमच पर आ उपस्थित हुई। उसके रूप में एक प्रकार की अलौकिक-मो गरिमा थी। जिसने भी देखा, निनिभेष देवता रह गया। तालसा जैसे विद्व की लागमा का मूर्तिमान् रूप थी। उसका जन्म कदाचिन् मायुवं घोः लावण्य रन्ही दो तन्वो से हुआ था। एक-एक अंग साधे में दला हुआ था। उसके अलस नयनों की मादकता उत्तेजनाकारी थी। कचन प्रतिमा-नी देहदृष्टि, मुगठित अवयव और अमम्भव और असामान्य आकर्षण लिए वह किशोरी सहस्रो में अनुपम थी। सहसा विव्याम नहीं होता था कि यह साधारण मनुष्य-वन्द्या है। देवदाना-मो कानि लिए हुए, जब वह मच पर आई उस प्रभात का जीवन आ गया।

तालसा रूपवती होने के साथ ही गुणज्ञ और गन्ध थी। शाली-नता का पाठ उसने पढ़ लिया था। जैसे ही निदिचन्त निष्कलुष से आगे बढ़कर उसने कृष्ण मूर्ति को प्रणाम किया, फिर दर्शक मण्डली की ओर देखकर, माँ के पास आ बैठी। उसकी दृष्टि क्या थी, सम्मोहन का शर था। जिसने भी देखा, जैसे आहत हो गया। ‘कितना ज्वलन्त रूप है इसका! इस धनि सोदर्य की समता कोन

उमके पीछा विभिन्न स्वर्-मायुष्य ने गमगम बाद-उत्तरों
 सज्जित कर दिया था। ध्वज के प्रतिष्ठा के माय में नहीं, व
 धनुषायी बनकर धगगा धगगा गाये करके के उद्देश्य में धा
 हो रहे थे। खोलागण मंत्रमुग्ध थे। मयूर सगीत-महरी वासुम
 में गूँज रही थी। पशुदिक आनन्द की धारायें उमड़ चली थी
 लगता था—पगिन विश्व ही गगीतमय हो गया है। मंदिर क
 कण-कण जैसे प्रतिध्वनित हो रहा था। जड़ धीरे चेतन, स
 उसी में तन्मय थे। धनुभूति के लिए मानो तसार में केवल यही
 आलाप होव रह गया था—

“सीत मुकुट निलक भात,
 सोभित प्रभु मुख विसाल।”

एक के बाद एक करके कामना ने कई गीत सुनाये। दर्शक
 तृप्त हो गए। सगीत का ऐसा धनुषम आनन्द उन्हें जीवन में आज
 पहली बार मिला। क्लान्ति धीरे निद्रा न जाने कहाँ चली गई।
 सारी रात बँठे, कामना के रूप और गीत से तृप्ति लाभ करते रहे।
 उस लोकोत्तर सुख के आगे उन्हें किसी प्रकार की दैहिक, भौतिक
 आवश्यकता विचलित नहीं कर सकी। परम संतुष्ट भाव से
 संगीत-सुधा पीते रहे।

धीरे-धीरे रात्रि का अंतिम पहर आया और चंद्रदेव अस्ता-
 चल की सीमा में प्रविष्ट हुए। समय का अनुमान करके
 पुजारी ने सूचित किया—“अब समारोह समाप्त होना चाहिए;
 कारण कि ब्राह्म मुहूर्त आ रहा है। पहले विचार था कि कामना
 एक भैरवी सुनाकर आप सब से विदा लेगी; किन्तु आपकी इच्छा
 है कि चलते समय उसकी पुत्री लालसा को एक पद सुनाने का
 अवसर दिया जाय। यद्यपि कुमारी लालसा अभी बालिका है;
 किन्तु एक गुणवती जननी की संतान होने के नाते, वह भी अपने

प्रयाम में सफल होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। आशा है, उपस्थित जन मनोयोग पूर्वक उस नायिका का गीत सुनाकर, एक नई प्रतिमा को उभरने का अवसर देंगे। भगवान् कृष्ण के समक्ष अपना मगीन प्रस्तुत करने को वह बालिका बहुत ही उत्सुक है।"

"घन्य है! घन्य है!" दशक समूह ने करतलध्वनि करते हुए कहा। कामना की सफलता देखकर उसकी पुत्री के प्रति लोगो की जिज्ञासा स्वभावन जाग उठी। वे उत्सुव-स्रवित दृष्टि से इधर-उधर देखने लगे कि नर्तकी पुत्री कौन है? दूरमे क्षण, कामना की द्वादश वर्षीया पुत्री लालसा मनोरम परिधान में सज्जित, किसी गन्धर्व कन्य की भाँति अपने देदीप्यमान आनन्द की कानि दिखेन्ती हुई रगमञ्च पर आ उपस्थित हुई। उनके रूप में एक प्रकाश की अनीकिक-भी गरिमा थी। जिसने भी देखा नितमेष देवता रह गया। लालसा जैसे विन्दु की लालसा का मूर्तिमान रूप थी। उसका जन्म बदाचिन् मायुर्ग और लावण्य उन्ही दो सन्दो में हुआ था। जब-जब घमसाचे में डला हुआ था। उसके घनस नयनों की मादकता उत्तेजनाकारि थी। कचन प्रतिमा-भी देहदृष्टि, मुण्डित अवदट और अमम्भव और असामान्य आकर्षण लिए वह किसीरी सहस्रो में अनुपम थी। सहसा विश्वास नहीं होता था कि यह साधारण मनुष्य-कन्या है। देवदाना-भी कानि लिए हुए, जब वह मञ्च पर आई उस प्रभान का जीवन आ गया।

लालसा रूपवती होने के साथ ही गुणज्ञ और गन्ध थी। लाली-नता का पाठ उसने पढ़ लिया था। जैसे ही निःचिन्त निष्कामुष से आगे बढ़कर उसने कृष्ण मूर्ति को प्रणाम किया, फिर दशक मण्डली की ओर देखकर, माँ के पास आ बैठी। उसकी दृष्टि बसा थी, सम्मोहन का शर था। जिसने भी देखा, जैसे घाटन हो गया। 'कितना उबलन रूप है हमका' इस अग्नि सौदर्य की समता बीन

कर सकेगा ? आह ! सचमुच, विधाता को कुछ भ्रम हो गया था, नहीं तो यह दुर्लभ मणि इस नर्तकी के पास आती ?”

किन्तु लालसा का ध्यान इस ओर नहीं था । अपनी आलोचना और प्रशंसा के प्रति सर्वथा विरक्त भाव से बैठी, पहले तो कुछ देर तक वह वादकों को संकेत देती रही; फिर अपने मधुर स्वर में अलाप लेकर वायु की गति मन्द कर दी ।

“ओ मुरली वाले” श्याम !

ओ मुरली वाले” श्याम ! !”

यह संगीत नहीं, संगीत का सदेह सप्राण स्वरूप था । दर्शकों की विमुक्ति चरम सीमा पर पहुँच गई । कामना का स्वर माधुर्य, भाव भंगिमा और कला-प्रदर्शन लालसा के समक्ष नगण्य हो गया । वह स्वयं भी पुत्री का असाधारण कौशल देखकर अभिभूत हो उठी थी । दूसरा कोई होता, तो कदाचित् ईर्ष्याज्वर उसे अचेत कर देता; पर माँ होने के कारण कामना को अपनी पराजय भी सुखद प्रतीत हो रही थी । उसने मन ही मन भगवान को धन्यवाद दिया— ‘मुकुन्दमन्दिर में आकर लालसा ने अपनी कीर्ति का वरदान प्राप्त कर लिया है । कृष्ण जी की कृपा से यह योडे ही दिनों में विख्यात हो जाएगी । आज का संगीत इसके भावी जीवन की आधारशिला बनकर रहेगा ।”

गीत अथ भी चल रहा था । उसके आरोह-अवरोह क्रमशः आजा रहे थे । वादकों में होड़ खगी हुई थी । वे अपने यशों से लालसा के साथ स्वर-माम्य का अथक प्रयोग कर रहे थे । श्रोता विस्मित थे । घीणा और लालसा का संयुक्त स्वर एक प्रकार का विभ्रम उत्पन्न कर देता था । गीत क्या था, सम्मोहन का मंत्र था । दर्शक भण्डली एकटक लालसा का रूप देग रही थी । कण्ठपुट राम-शुभा पा रहे

“ओ मुरली वाले” श्याम ! !”

लालसा के राग में तन्मय थे और गायक, वादक तथा श्रोता सबके मन प्राण केवल इसी लय पर झूम रहे थे—

“ओ मुरली वाले...श्याम !”

न जाने, यह वास्तविकता थी अथवा दर्शकों की मनोभ्रान्ति कि रंग-मंच के ठीक सामने स्थापित भगवान् मुकुन्द की युगल मूर्ति जैसे मुख होकर झूम रही थी। सैकड़ों दीपक जल रहे थे। भ्रम की कोई सम्भावना न थी। सब कुछ स्पष्ट था। प्रस्तर प्रतिमाओं को झूमते देखकर लोग चर्चिन हो उठे। कदाचित् यह वह स्थिति थी, जो नौशास्त्र पथिक की होती है, जब वह अपनी सतरित नौका को स्थिर समझ कर तटस्थ वस्तुओं को गतिमय देखना है। ब्रह्म-मूर्त के उस नीरव-निस्पन्द वायुमण्डल में लालसा की स्वर लहरी इतनी स्पष्ट प्रतिध्वनित हो रहा था कि दर्शकों ने समझा—यह तो भगवान् मुकुन्द का स्वर है। उन्हें लगा कि लालसा और मुकुन्द-मूर्ति ही नहीं, परन्ती और आकाश का कण-व्यण बड़ी मुखकारी अन्तर्ध्वनि में रहा है—ओ मुरली वाले श्याम !”

अचानक, जब लालसा ने गीत समाप्त किया, तो जैसे युगान्तर हो गया। स्वयं-व्यञ्ज भग हो गया और मर्त्य की अनुमूर्ति प्रत्यक्ष होकर अट्टहास करने लगी। गुट्टि-तन्मयता का वह विस्मृतिकारी प्रभाव न जाने वहाँ खला गया ? सारे दर्शक जो अभी तक कल्पना लोक में विचार कर रहे थे, सहसा भौतिक जगत् में आ गये। जान पड़ा कुछ हो गया है। वे व्यर्थ दृष्टि न दृष्ट-उपर देखने लगे। एक अज्ञान-की मृणा, अनूप और पदालाप की गेवाये उनके मुखों पर स्पष्ट हो उठी थी। मगीन थी उम आणप्रद निर्भङ्गी का बल-बल प्रभाव एक जाने से एक प्रहार की मनोव्यथा उन्हें पीड़ित करने लगी।

दीर्घा का प्रकाश फैला हुआ था, किन्तु अब उगमे बह

ज्योति नहीं थी। प्रभात का आगमन जानकर वे हतप्रभ हो चले थे। लालसा अब भी मंच पर बैठी थी। वही रूप था, वही लावण्य। न क्लान्ति थी, न मलीनता। हाँ मस्तक पर कुछ धमकण भलक आए थे, जो कवियों की 'सजल जलज' की उक्ति का प्रमाण प्रस्तुत कर रहे थे। उन श्रम बिन्दुओं ने लालसा के रूप लावण्य की अभिवृद्धि कर दी थी। किन्तु दर्शकों को इससे संतोष नहीं था। कदाचित् वे उसी स्वर-सहरी की प्रतीक्षा कर रहे थे।

कामना ने उठकर दर्शकों का अभिवादन करते हुए कहा—
 “सज्जनो ! मेरी पुत्री अभी बहुत ही प्रबोध है। संगीत-शासन का अक्षराम्भ-मात्र उसने किया है। अतः यदि वह आपको सन्तुष्ट न कर पाई हो तो क्षमा करें। भगवान् मुकुन्द की कृपा होगी तो मैं उसे अगले वर्ष और अधिक शिक्षित करके आपकी सेवा में उपस्थित करूँगी।” और, वाक्यान्त में नतमस्तक हो गई।

माता-पुत्री के रूप-गुण ने दर्शक-समाज को बन्दीभूत कर लिया था। किसी में इतना अहम् नहीं रह गया था कि कामना के कथन का विरोध करता। करता भी, तो क्या ? उसने जो कुछ कहा था, औपचारिक शिष्टाचार ही तो था ! लोग 'धन्य-धन्य' कहने लगे। सहसा, किसी भावुक व्यक्ति ने अपना मूल्यवान् हार कामना की ओर फेंकते हुए कहा—“पुरस्कार तो नहीं करूँगा, हाँ लालसा के लिए मेरी निछावर आ रही है, ले लेना।”

किर जैसे उपहारों की वर्षा होने लगी। पुष्पमालाओं से लेकर कुण्डल-मुद्रिका और कंकण तक फेंके गए। किसी को कोई सकोच नहीं था। सब मुक्त भाव से अपने-अपने उद्गार लुटा रहे थे। पुजारी वर्ग ने देखा तो स्तब्ध रह गया—“घरे, देव प्रतिमाओं पर पुष्पवर्षा होती है, और इस नर्तकी पर रत्नवर्षा हुई। तो, क्या

नचमुच, सोन्दर्य ही संसार की सर्वाधिक वन्दनीय विभूति है ?
 इनका ज्ञान और विवेक फिर से अपनी परिभाषा खोजने लगा ।

ठीक उपा बेला में, जब प्रभात का सन्देश लेकर पूर्वीय क्षितिज पर अरुणिमा ने अपनी पनाका फहराई, दास ध्वनि एवं घण्टा-घडियाल के मंगल-रव के मध्य भगवान मुकुन्द की जय-जयकार करते हुए, उत्सव समाप्त हुआ । पुजारियों ने प्रसाद वितरण किया और दर्शकगण, देवप्रतिमाओं को प्रणाम करके, अपने-अपने स्थान की ओर लौट पड़े । वे परस्पर बातें कर रहे थे । कोई मन्दिर सज्जा पर मुग्ध था, कोई प्रतिमाओं की भव्यता पर । कोई महन्तजी के सौम्य स्वभाव की प्रशंसा कर रहा था, कोई मृत्युवर्ग की तत्परता की । किन्तु सबसे अधिक सच्चा उन लोगों की थी जो कामना और लालसा के सोन्दर्य-संगीत का बखान कर रहे थे । यद्यपि उनके मन में कोई कुत्सा नहीं थी, फिर भी संगीत के उस मधुरिम दानावरण का स्मरण उन्हें खचन कर रहा था । दोनों नर्तकियों के रूप-सावण्य, भाव-प्रदर्शन और स्वर-माधुर्य पर वे अनेक प्रकार से टीका टिप्पणी कर रहे थे ।

चलने-बलने एक व्यक्ति ने अपना विचार प्रकट किया—
 “हो न हो, यह दोनों पूर्वजन्म की कोई अप्सरा या पत्नी है । माथारण रत्नी में दाना रूप बही से छाएगा ? देखो न, कितनी देर तक हम सबने घूँटकर उन्हें देखा, उनके गीत सुने, फिर भी इच्छा तृप्त नहीं हुई । यही जो चाहता है—एक बार फिर बही भीकी देगने को मिल जानी ।”

समीप में एक सन्ध्यासी जैसा मुखक जा रहा था । उगने गुना, तो बग—

“तृप्येना राश घन सचयेन, न मागरो भूमि जलागमेन ।
 न पटिन. साधु गुभातिनेन, तप्येन चक्षु श्रिय दर्शनेन ॥”

“ॐ नमो नारायण ! निश्चय ही तुम्हारा विचार अत्यन्त उज्ज्वल और पवित्र है । संसार का कोई भी मनुष्य तुम्हारा स्पर्श न कर सकेगा । निश्चिन्त और निर्विकार मन से अपने नगर लिए प्रस्थान करो । अवसादग्रस्त होकर यात्रा करना उचित नहीं भगवान् कृपण सब मंगल करेंगे । भले ही हम पामर जन स्वार्थः उनकी व्यवस्था में छिद्रान्वेषण करें; किन्तु वह सर्वथा नाश्वर शिव और सुन्दर है । उसमें परिवर्तन की सम्भावना नहीं । : कल्याणकारी होता है ।”

वामना ने पुनः उनकी चरण रज्जु ली और समबोध निवेदित किया—“देव ! एक जिज्ञासा है, किन्तु मैं हीनमति निश्चय नहीं कर पा रही कि उसे आपके ममता प्रसूत करें या नहीं भगवान् माहस नहीं हो गइ कि आपको कष्ट देने की क्षमता है ।”

“शिव, शिव ! कष्ट कैसे होगा । निश्चिन्त भाव में आप प्रदत्त प्रकट करो । यह तो भोग वर्तमान है कि तुम्हारे किन्हीं ऋणों को शान्त करें । निर्भय होकर कहो क्या कहना है चाहो ?”

“यह मेरी एकमात्र गन्तव्य है । --वामना ने तालसा पीठ पर हाथ रखकर कहा — यद्यपि भव स्वयं ही उसे सर्वांग शिक्षा देती हैं । हमकी योग्यता और प्रतिभा आप हम ही चर्चें ; चाहती हैं आप हमारे लाये देखकर हमारे भविष्य का कुछ आभ देने की कृपा करें ।”

“नारायण !” —महन्त ने दीर्घ निश्चय लेकर आकाश की ओर देखा, फिर बोले—“वैसे, विद्वत् का कणु उस सर्वज्ञविमल की दृष्टि और आज्ञानुसार ही गतिशील है । किन्तु उद्योगिक मूल्यों द्वारा भूत-भविष्य के विषय में मोटा-बहुत ज्ञान लेना मर

समक्ष सुख-शान्ति की कामना व्यक्त की, और अपने निवास-स्थान की ओर लौट आई ।

दूसरे दिन घुन्दावन वासियों ने देखा—मुन्दरी कामना सेवक, सहायको सहित रथाष्टक, अपने नगर की ओर जा रही है । वे एकटक उसे देखते रहे, थोड़ी देर बाद कामना का रथ धूल में अदृश्य हो गया ।



कामना का घपना घर ।

भौतिक सुख-साधनों से सज्जित ब्रह्म ।

दुग्ध घबल सीमा पर लेटी हुई कामना विचारमग्न थी—
महन्त जी का ज्योतिषज्ञान असंदिग्ध है । उन्होंने जो कुछ बताया
है, वह सब ब्रह्मवाच्य की भाँति अकाट्य है । वैसे, कोई अवगुण
नहीं है मेरी पुत्री में; फिर भी दो एक संकेत कुछ शंका उत्पन्न
कर रहे हैं । उन्होंने कहा था—वैवाहिक जीवन में व्यतिक्रम ।

“तो ?”

कामना ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर करबट बदली ।
‘व्यतिक्रम’ का स्मरण उसकी शान्ति में व्यतिक्रम उत्पन्न करने
लगा । मनोमंथन बढ़ गया । दुष्कल्पनाएँ अनेक प्रकार के भयावह
रूप दिखाने लगी । वह व्यतिक्रम क्या होगा, कैसा होगा, यह प्रश्न
अंभ्रा की भाँति उसके मस्तिष्क में गूँजने लगा । उसने छत से
लटक रही कन्दील पर दृष्टि स्थिर कर दी; जैसे ब्रह्म का दर्शन
कर रही हो और व्यतिक्रम के रूपाकारों से अपने अनुमान का
समन्वय करने लगी—

वह व्यतिक्रम कब होगा ? एक ही बार न ! कि बार-बार
होता रहेगा ? क्या दाम्पत्य-जीवन में कलह होगी ? ऐसी संना-
वना तो नहीं है; कारण कि मेरी पुत्री रूप-गुण दोनों की दृष्टि

से सम्पन्न है ।

तब ?

एक विवरूप यह भी हो सकता है कि इसका पति आगे चल कर दूसरी विचार-धारा का सिद्ध हो । सैद्धान्तिक मतभेद ही तो प्रायः दाम्पत्य-जीवन में घाघात उत्पन्न करते हैं । किन्तु इसके लिए मैं इस पात्र को भ्रष्टी-भ्रांति परख लूंगी, जिसके साथ लालसा का विवाह करना होगा ।

नरमा धनमन के किसी कोने में प्रश्न उठा — घोर यदि दो में कोई पगु शयवा होगी तो जाय तब ? क्या उस दारुण दम्पतर की सम्भावनाये समाप्त नहीं हो सकती ? कम से कम एक गायन-सादन पर निर्भर रहने वाली दुबली ना लेगी स्थिति ग्रहण में भी स्वीकार न करेगी । मान लिया जाय कि ऐसा न ज्ञान, तो भी घोर जितनी ही बाधाएं नः सामने आ सकती है जो दम्पति का सम्बन्ध विच्छेद कर देती है । जैसे मृगापान मन्दोदरान् उत्तर-दाक्षिण्य से पलायन समर्पित जीवन, अविचार और विषम-ग्रहण या ऐसा ही घोर कुछ । तब ?

सम्भावनाओं का समूह कामना ही बन बन रहा । उस दोनो हाथों से मुँह टाप लिया घोर और और खूब तरह अपने का सम्मान लगी — उन्हें यह सब भविष्य के गर्भ में लिखा है । जो जानता है । बड़ी जाना । न कम न अधिक । तब इस प्रकाश अपने का मरण करने में क्या लाभ ? मिथ्या का मथन उसे दयावत् कर देता है । अभाव घोर अवगुण बड़ी, किम्वद नहीं है । महान् जी ने मानसा के सौभाग्य की धार भी तो गंजन किया था । उगी का क्यों न सोचा जाय ? जब बल्यता ही पगरी है, तो सुखद बल्यता फल, तेरी दुःखिन्ना और समदम बल्यता के द्वारा अपने सन-सन क्यों क्षीण करे ?

एक-एक किसी घन्तप्रेरणा से कामना के नेत्र चमक उठे ।
 उसने निश्चय किया—लालसा को अपनी बग-परम्परानुसार संगीत
 की शिक्षा देना ही उचित होगा । इस कला में इमे सफलता अवश्य
 और शीघ्र मिलेगी । फिर भाग्य में जो होना होगा, होगा । उसने
 एक बार पुत्री की ओर देखा—नालसा के शरीर में, रूप और
 वर्ण में, भाव और भविष्य में, नेत्रों और घघरो में, कोटि और
 कक्ष में सर्वत्र परिवर्तन हो रहा है । सँभव जा रहा है, गौयन
 हो रहा है । मुख पर कौन्हेन और जिज्ञासा के प्रकृत शिशु-भाव
 क्षीण हो गए हैं । उनके स्थान पर एक प्रकार की रागमयी तृप्णा
 की रेखाएँ उभरने लगी हैं । समार से स्त्री और पुष्प के भेद से,
 मदन और सखी में अर्पित-चित्त घालिया, अब जैसे इन मन्त्रों
 समभन लगी है । इसकी घन्तर-आत्मा, उसके मन्त्रिक को किसी
 अभाव की अनुभूति हो रही है ।

उसने कहा—“नालसा चलेकर फलदाही में खेले, मैं भी
 जा रहा हूँ । आज हस्तशृंगार के पक्ष में कुछ मजाऊँगी ।”

लालसा को अपने बेज-विन्यास में हस्तशृंगार के फूलों का
 हार लगाना बहुत ही प्रिय था । मा की आज्ञा ने उसे पुष्पकित
 पर दिया । आनन्दानन्द में लाली बजाकर खोली — ‘मा ! मच
 बरनी हो न ? पहा, हा ! हा !’ और तरंगयित गति में फूल-
 दाही की ओर चली गई ।

कामना दो क्षण बँटी साचनी रही — इसकी शिक्षा का प्रबन्ध
 क्या करूँ ? मधुरा, बाबीरगम, श्रीनगर, दारुका और कामारध्व
 जैसे कई स्थानों का स्मरण हुआ, जहाँ संगीत शिक्षा के विद्वान
 रहते थे । किन्तु, प्रवाग की अनुविद्या ने उसे वही के प्रति भी
 उन्माहित नहीं किया । एकमात्र पुत्री को न तो अकेले भेज सकनी
 थी और न यही सम्भव था कि पाँच बयों के लिए उसके साथ

जाय । अपनी चल-अचल सम्पत्ति की रक्षा का प्रश्न तो था ही, स्वतन्त्र रूप से व्यवसाय में भी विघ्न की सम्भावना थी ।

सहसा उसे एक नया मार्ग दिखाई पड़ा—सोमदत्त को ही क्यों न बुला लूँ ? योग्यता में किससे कम है वह ? और, साजसा को पूरे मनोयोग से शिक्षा देगा, यह तो निश्चित ही है । मेरी आज्ञा, मेरी सन्तुष्टि की प्रतीक्षा में उसने क्या नहीं किया ? आह सोमदत्त, तुमने मुझसे प्रेम करने का प्रयत्न किया था; पर मैं उसका प्रतिदान न दे सकी । क्या करती, विवश थी । जानती हूँ कि तुम अपना सर्वस्व मुझ पर बार सकते थे; फिर भी मेरी कुछ सीमायें थी । मैं अपने मन पर नियन्त्रण नहीं कर पाई, अपनी भावनाओं के साथ समझौता नहीं कर सकी । तो भी, यदि मेरे मन में किसी के प्रति तनिक भी उदारता अथवा विश्वास है, तो वह व्यक्ति तुम हो । ओ भगवान् !

और, भगवान् को पुकारते ही उसका मस्तिष्क अतीत की घटनाओं में डुलझ गया ।

कामना जिस परिवार की पुत्री और पत्नी थी, नृत्य और गायन ही उसकी जीविका थी । यह उसका वशानुगत व्यवसाय था । संयोगवश कामना भी माता-पिता की एकमात्र सन्तान थी । उसका विवाह सीताराम नामक एक सम्बन्धित युवक से हुआ था । प्रारम्भ के कई वर्ष तो बड़े मधुर रहे; किन्तु बाद में धीरे-धीरे दोनों के मध्य सैद्धान्तिक मतभेद उभरने लगा । कामना भौतिकता की दासी थी । राग-रग और शृंगार विलास के प्रति उसमें नारी-मुलभ आकर्षण था । यद्यपि वह आचरण से भ्रष्ट नहीं थी, पति के प्रतिरिक्त अन्य किसी पुरुष के प्रति उसमें शृंगार उत्पन्न नहीं होती थी; फिर भी उसकी चञ्चलता सामान्य में कुछ अधिक थी । सीताराम का स्वभाव इनके ठीक विपरीत था ।

वह गम्भीर, शान्त, प्रत्यभापी और दार्शनिक विचारों का था ।
 परमेश्वरों में उसकी प्रतिष्ठा प्राप्त थी । उसकी यह प्रवृत्ति धीरे-
 धीरे बढ़ती गई, और उसका अधिकांश समय साधु-मत्तों की
 संगति में बीतने लगा । अन्ततः एक समय के प्रवचन ने उसे पारि-
 वारिक माया-मोह से इतना विरक्त कर दिया कि एक रात वह
 चुपचाप उठा और बिना किसी से कुछ कहे-सुने हरद्वार की ओर
 चल पड़ा । लालसा उस समय तीन वर्ष की थी । माँ-बेटी दोनों
 मो रही थी । उन्हें सीताराम के गृह त्याग का स्वप्न भी नहीं
 दिखाई पड़ा । प्रातः जब उठी, तो दियोड़ी के पाम एक पत्र मिला ।
 उसी में पत्रा चलता कि सीताराम उन प्रभु के चरणों की ध्यायना
 करने चला गया है, जो अमिल विद्वत् के स्वामी और गचानक
 है । अब उसकी प्रतीक्षा अथवा खोजने का प्रयास न किया जाए ।
 कामना सारी सम्पत्ति की स्वामिनी है वह अपनी इच्छानुसार
 उसका उपभोग कर सकती है । सीताराम की आज्ञा में उस पर
 कभी कोई प्रभुत्व नहीं लगाया जाएगा । वह मायाविष मारा-मोह
 का परित्याग कर भगवान का दान हो गया है ।

समय का आवरण धरे-धरे छिड़ा को ढँक देता है । प्रति व गृह-
 त्याग के तीन वर्ष पदचालत् कामना फिर व्यवहृत मनोदत्ता में धा
 गई । अपने वह पूर्ववत् उत्साह और मनोराग व साध नृत्त साधन
 का व्यवसाय चलाने लगी । सीताराम की स्मृति तब अधर्म स्था
 की भाँति दोष रह गई थी, वगैरे । उगत अपने वागमूत्र करने के
 लिए मोचकर गया था—जने गये तो क्या हुआ । एक और ज्ञान
 की शोच में ही तो गए हैं । वह तो अपनी-अपनी राह है । कोई कुछ
 बातें हैं, कोई कुछ । वह अज्ञान ज्ञान की शोच में गए हैं ।
 मर्गत-ज्ञान प्राप्त करने की दिशा तो गयी है । गृह-भूतान के
 अन्तर्गत का सुभे नैतिक अधिपति है । हमें क्यों रोए है ?

इस समन्वय ने उसे निश्चिन्त कर दिया । वह निर्द्वन्द्व भाव से पुत्री का पोषण करती हुई, दूर-दूर के संगीत समारोहों में भाग लेने लगी ।

एक बार प्रयोग में अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन था । कामना भी गई । उसके रूप-लावण्य और संगीत-कौशल को देखकर लोग चकित रह गये—वह किन्नरी कहां से आ गई ईश्वर !

दर्शकों में एक बणिक् पुत्र भी था । पूर्ण युवक और स्वस्थ । रागरंग का प्रेमी और अतृप्त कामनाओं का दास । किन्तु शालीनता और संकोच के कारण बरबस संयमी था । भावुकता अधिकता थी; पर उसे व्यावहारिक रूप देने का साहस नहीं था । कदाचित् वह अपने को समाज में 'निलंज्ज' कहलाना चाहता था; इस कारण आत्मरति में ही सतुष्ट रहता था । कामना को देखा तो तन-मन ध्वस्त कर बैठे । भूख-प्यास और निद्रा न जाने कहां चली गई । जीवन का एकमात्र लक्ष्य रह गया—कामना की प्राप्ति । और, उसके लिए वह अपना सर्वस्व लुटा देने के लिए कटिबद्ध हो गया ।

तीन दिन के अहनिश मनोमंथन पर विजय पाकर अन्ततः वह सध्या समय कामना के पास गया । दासी से सूचना पाकर कामना ने उसे भीतर बुला लिया । देखा—एक स्वस्थ और सुन्दर युवक आखों में अतृप्ति और समर्पण का भाव लिए खड़ा कह रहा है—
“कामना देवी ! मैं तुम्हारा दर्शन करने आया हूँ ।”

सामाजिक विचारधारा, व्यावसायिक बुद्धि और स्वाभाविक मधुरता के स्वर में, मन्द मुस्कान के साथ कामना ने हाथ जोड़कर उसका अभिवादन किया—“मेरा प्रहोभाग्य ! आइए, बैठिए ।”

युवक दो पग आगे बढ़कर चित्राकित आसानी पर बैठ गया ।

“मेरे लिए आज्ञा ?” कामना ने प्रश्न के साथ ही ताम्बूल उसके आगे प्रस्तुत कर दिया ।

का सम्मान करती हूँ। बताइए, मैं किस प्रकार का सहयोग देकर आपकी आज्ञा का पालन कर सकूँगी ?”

“मैं जीवन-पथ पर अकेला ही चल रहा हूँ।”

“तो ?”

“मुझे संगी चाहिए।”

“कोन ?”

“तुम।”

कामना युवक की ओर एकाएक देखती रह गई।

“यह भाप क्या रहे हैं ? कहां मैं—नतंकी, समाज से बहिष्कृत घृणा और तिरस्कार का पात्र। और कहीं भाप—समाज के सम्मानित ध्वजित, नगर सेठ के पुत्र, सर्वत्र भादर और सम्मान के लिए आमंत्रित ! मेरे स्वप्न से आपकी प्रतिष्ठा नष्ट हो जाएगी, यह भी तो सोचिए !”

“यह सब सोच चुका हूँ। तीन दिन तक यही सोचता रहा हूँ। धन, सम्मान और दूसरे सुख-साधन मुझे संतुष्ट नहीं कर सकते, यदि मैं तुम से संबंधित हूँ। मेरे लिए सुख और नाति का एकमात्र आधार भव तुम्हारा प्रेम ही रह गया है, वरुण। इनके अनिश्चित शेष संसार मेरे लिए गून्ध है, तुच्छ है।”

कामना ने देगा—युवक की वाणी में गम्भीरता है और भेष्टा में संयम। निश्चय ही यह मेरे ऊपर अनुरक्त हो चुका है, और जो कुछ भी कहूँगी, बिना विवाद-प्रतिरोध के स्वीकार कर लेगा।

‘तो ? क्या इसे बरण कर लूँ ? मैं भी तो घरेलौ ही हूँ। बिना एक गली के, बिना सम्बल के जीवन कितना बक है, कितना अस्थिर है ! सब कुछ अनिश्चित जैगा !’ मन में उमड़ते भावों को संतुलित कर एक बार उसने मोपसत की घण्टी की दृष्टि से देगा; फिर जैसे कुछ गहरा होकर बोली—“क्या मान करना विचार करना

नहीं सकते ? मैं चाहूँगी कि आप यही करें। मैं आपके योग्य नहीं हूँ।”

“इसका अर्थ यह कि मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ। ठीक है न ?”

“क्या कह रहे हैं आप ! वह ससार की सबसे अधिक भाग्यशाली स्त्री होगी, जो आपको वरण करेगी। ऐसा गम्भीर और निश्चल प्राण भी सहज-मुलभ नहीं होता।”

“फिर तुम क्यों ठुकरा रही हो ? जो तुम्हारे लिए मुलभ है, उसके लिए स्वयं को क्यों दुर्लभ बना रही हो ?”

“ऐसा तो मैंने नहीं कहा।”

“फिर ?”

“आप मुझे सोचने का समय दें।”

“कब तक ?”

“परसो साय आदरणा।”

“किंतु मेरे लिए आशाजनक निरांय कर रखना।” कहकर युवक उठा और आत्म-समर्पण के भाव से दृष्टि-अगम करके चला गया।

बामना बँटी सोचती रही—‘कौमी लीला है प्रभु की ? क्या इस युवक का प्रस्ताव स्वीकार करा लूँ ? क्या मेरी स्थितता को यह दूर कर देगा ? आह ! रात्रि की नीरव पड़ियों कभी-कभी कितनी बहटकर हो उठती है। यह युवक—सौम्य, गालीन, धनी और प्रणयी सब कुछ तो है ! फिर ? क्या कहूँ भगवान् !’ उसने भावा-कुल होंकर नेत्र मूँद लिए। बदाबिन् अल्लर्यामी के निर्देश की प्रतीक्षा करने लगी थी।

सहसा वह थोके पड़ी। ध्यानस्थ अवस्था में उसे प्रतीत हुआ कि सामने सीताराम, परतो से पीछे हाथ ऊपर छपर में खड़ा, घोर बिह्व के साथ अदृष्टात् करता हुआ बह रहा है—

‘स्त्रियश्चरित्रम् देवो न जानाति ।’

किसी दुःस्वप्न का सा यह दृश्य देखकर उसकी आँखें खुल गईं। भयकातर होकर इधर-उधर देखने लगी। कहीं कुछ नहीं। वही वक्ष था, और वही साज-सज्जा ! न सीताराम की छाया, न सोमदत्त का अस्तित्व। किंतु वायु में अब भी वही कंकश कण्ठ स्वर गूँज रहा था—

‘स्त्रियश्चरित्रम् देवो न जानाति ।’

कामना की हृदय स्पंदन गति बढ़ गई। मुख पर स्वेद बिंदु झलक आए। भाव-विह्वल होकर उठी और क्षिप्र गति से बाहर की ओर निकल गई। कक्ष का कण-कण उसे मस्त करने लगा था। प्रसाधन और विलास के सारे उपकरण सीताराम की प्रति मूर्तियों जैसे प्रतीत होने लगे, जो वही व्यंग्यमय अद्भुतहास करते हुए कह रहे थे—

‘स्त्रियश्चरित्रम् देवो न जानाति ।’

और, तीसरे दिन संध्या समय जब सोमदत्त आया तो उसने स्पष्ट कह दिया—“आपकी भावनाओं का मैं सम्मान करती हूँ; किन्तु पति रूप में आपको वरण नहीं कर सकूँगी। मैं विवाहित हूँ और एक पुत्री की माँ भी। मुझे ऐसे ही रहने दीजिए। आपकी पत्नी बनने का सौभाग्य मैं नहीं पा सकती। आप मुझे क्षमा करें।”

सोमदत्त हत प्रभ रह गया। उसे धरती घूमती हुई सी प्रतीत हुई। ऐसे विपरीत उत्तर की आशा उसने नहीं की थी। मग्न स्वर में बोला—“तब कोई बात नहीं, मैं जा रहा हूँ। किन्तु इतना निश्चित कि मैं अब अपने पर संयम न रख सकूँगा। मेरा मस्तिष्क विक्षिप्त हो जाएगा और विक्षिप्तों की भाँति शीघ्र ही किसी दिन मैं किसी घटना का ग्रास बनूँगा। प्रभु तुम्हें सुखी रखे।”

दूसरे क्षण वह एक झटके के साथ उठा और बाहर की ओर

सोर्ट पड़ा ।

कामना की बुद्धि कुंठित हो गई । वह निश्चय नहीं कर पाई कि क्या करे । जड़बन् रखी रही । एकाएक उसके मस्तिष्क में एक विचार बोधा—वे पति-पत्नी सही, मित्र बनकर तो हम रह सकेंगे । वह पुरुष है घोर में मारी । एक-दूसरे के लिए सबल-महायक बन सकते हैं । उगे मित्र भाव से स्वीकार कर लेना ही उत्तम होगा ।

अब तक सोमदत्त चयूतने की मीडियो पर पट्टीच गया था । कामना ने मदेन आगे बढ़कर उसे पुकारा—“धरे, मुनिये तो !”

भग्नहृदय सोमदत्त को यह वाक्य गांधान् आगा का आह्वान प्रतीत हुआ । घूमकर पीछे देखा, तो कामना बुला रही थी । धानुर पणों से सोर्ट आया ।

पास आ जाने पर कामना ने कहा—“आपके प्रेम की गभीरता में समझ रही हूँ । उसका सम्मान भी करनी हूँ । इसलिए इतना कर सकती हूँ कि यदि आप चाहे, तो मैं मित्र रूप में आपको स्वीकार कर सकती हूँ । मेरा मन अवश्य आपके प्रति उदार और समर्पित रहेगा; किन्तु नन नहीं । दो मित्रों में कितनी अनिष्टता होती है, वह मैं निमाने के लिए बचन देती हूँ । यदि आप समय से रहे, मेरे साथ भी छल-प्रपञ्च न किया, तो जीवन की अंतिम सांस तक आपकी मित्र रूप में साथ रखूंगी । बताइए, क्या इनने से आप मनुष्ट हो सकेंगे ?”

सोमदत्त कामना के रूप पर विवेक-रहित-मा मुग्ध था । वह किसी भी प्रतिबन्ध को स्वीकार कर सकता था, यदि कामना की गामीष्य मिलने की सम्भावना होती । मित्र होना भी सहज गुलब नहीं होता । अतएव मित्र होकर तो वह कामना के पति का स्थान से ही लेगा यह उसकी निश्चिन धारणा थी । बोला—

“सर्वस्व का मोह त्यागकर अर्ध भाग से भी सन्तुष्ट हो जाऊँगा। तुम्हारे प्रति वासनाजन्य उन्माद से प्रेरित होकर नहीं, प्रणय की मधुर भावनाओं का सन्देश पाकर अनुरक्त हुआ हूँ। तुम्हारी मित्रता को भी वरदान के रूप में स्वीकार करूँगा।”

“तब ठीक है। मैं भी आपका सामीप्य पाकर स्वयं को भाग्य-शालिनी बनाने का प्रयास करूँगी। किन्तु एक प्रतिबन्ध है—”

भावना-सरोवर में तैरता हुआ सोमदत्त जैसे किसी चट्टान से टकरा गया। ‘प्रतिबन्ध’ शब्द ने उसे शक्ति कर दिया। पूछा—
“क्या है वह प्रतिबन्ध?”

“यही कि—” कामना एक क्षण को रुकी; फिर स्पष्ट स्वर में बोली—“आप अपने समस्त परिवार और सम्पदा से पृथक् होकर पहले कुछ दिन कहीं भारतीय संगीत का शास्त्रीय अध्ययन कर लें। ताकि हम दोनों कहीं भी रहें, एक-दूसरे के पूरक बन सकें।”

सोमदत्त एकटक उसकी ओर देखता रहा।

कामना ने फिर कहा—“पतिदेव मुझ से विरक्त होकर साधु हो गए हैं। उन्हें संन्यासाश्रम से भी विरक्त करूँ, तो इससे बढ़कर जीवन की विडम्बना और दया होगी? मेरी शुभ कामनाएं आपके साथ हैं। जाकर किसी संगीताचार्य की चरण रज के सहारे, इस कला में निपुण हो जाइए; फिर हम दोनों एक-दूसरे के अति निकट आ जायेंगे। इससे अधिक आपके प्रेम का प्रतिदान मैं नहीं दे पा रही।”

सोमदत्त को बात लग गई। उसका पौरुष अँगड़ाई लेकर उठ बैठा। सोचा—तो क्या मैं ऐसा नहीं कर सकता? संगीत के प्रति अनुराग तो मुझ में है ही। प्रयास करने पर मुझे सफलता अवश्य मिलेगी। उसने खड़े होकर कहा—“सुन्दरी! तन-मन तुम पर वार चुका हूँ; इसलिए जो भी कहोगी, करूँगा। वैसे भी तुम्हारी

जान का प्रीतिमय ही स्वीकार करना है। यदि मैं संगीत का ज्ञान हो गया तो स्वभावतः मेरे प्रति नृमत्तगी शक्ति बढ़ जाएगी। धन्यवाद ही जाना है और समकाल की कृपा रही। तो किसी समय नृमत्तगी निर्देशानुसार संगीत-विद्या भीमकर अपना जीवन गार्हक करेगा।" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए बिट्टु ने वेग में चला गया।

भावना और वर्तमान की क्षमा में धन्य कामना समर्पण की भाँति घंटी देगनी रह गई।

फिर . .

पाँच वर्ष बाद उत्कलिनी के संगीतार्थ संगमदेव का आशीर्वाद लेकर जब वह लौटा तो देगकर कामना चकित थी। इनने दिनों की लपटों में सीमदम का अनिमित्त नेत्रश्री बना दिया है। नेत्रों में आत्म-विश्वास की ज्योति प्रसर हो उठी है। अधीनता और घावना का लोप हो गया है। मुख पर वह नेत्र है जो किसी को भी पराजित-प्रभावित करने की क्षमता रखता है। बृष्ट स्वर इनका मधुर और मयमिती हो गया है कि साधारण बातचीत में भी संगीत जैसा प्रतीत होता है।

और जब वह पता चला कि रोमदत्त ने अनेक प्रकार के वाद्य यंत्रों का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है, तब तो कामना अपना सारा गर्व भूल गई। विनीत भाव से उसके सामने झुककर विलय-पूर्वक कहा—“सबसे, अब आपको अपना मित्र बनाने में गौरव का अनुभव करती हूँ।”

तब से दोनों में भावभीमता और विश्वास का भाव बढ़ गया और वे निरंतर एक-दूसरे के समीप रहने लगे।



“वत्स सीताराम !” स्वामी सहजानन्द ने चलते-चलते एका-एक पीछे घूमकर अपने शिष्य को सम्बोधित किया ।

“हाँ प्रभु !” हाथ जोड़कर सीताराम उनके आदेश की प्रतीक्षा करने लगा । गुरु-भक्ति की भावना उसमें प्रति क्षण सजग रहती थी ।

“यक तो नहीं गए ?”

सीताराम गुरु से झूठ बोलने का साहस नहीं कर सका । अपनी दुर्बलताएँ वह उनसे प्रकट कर देता था । नतमस्तक होकर बोला—“आप आज्ञा दें प्रभु, यथासामर्थ्य सेवा में त्रुटि नहीं होने दूँगा ।”

स्वामी सहजानन्द ने उसकी घोर प्रमत्त दृष्टि से मुस्कराकर देखा ।

यह सीताराम वही था—महत्वाकांक्षिणी गायिका कामना का पति, जो विरक्त होकर घर से सदा-सर्वदा के लिए चला आया था ।

स्वामीजी ने कहा—“तुममें ईश्वर के प्रति झड़िय आस्था और मदाचरण के प्रति निष्ठा देखकर ही मैंने अपने साथ लिया ; अन्यथा मुझे एवान्त अधिक प्रिय है । मैंने भी भक्ति और मापि एवान्त में ही पूर्ण होते हैं । भीड़ और मोताहस में मन

की एकाग्रता भंग हो जाती है। विचारों का स्यायित्व एकान्त में ही सम्भव है, जन-संकुलता में नहीं।"

"बिन्तु, महाराज !" मैंने देखा है कि अधिकांश साधु-महात्मा अपने पास सदैव शिष्य-मंडली बिठाये रखते हैं। भक्तों और दर्शनार्थियों से घिरे रहने पर भी वे अपनी तपश्चर्या करने रहते हैं।"

स्वामीजी हँस पड़े।

गीताराम उस हँसी में निहित सबेन को समझ नहीं सका। जिज्ञासु दृष्टि से उनकी ओर देखता रहा।

स्वामीजी का उन पर महज स्नेह था। बोले—मैं किसी की निंदा नहीं करता, पर सत्य यही है कि हमारे साधु-समाज में भी सब सासारिकता का प्रवेश हो गया है। प्रदर्शन और प्रचार के द्वारा अपने को विख्यात करने की भावना में ही हम लोग अपने घाम-पास भीड़ लगाए रहते हैं। घन-सम्मान का लोभ इस प्रेरणा का मूल कारण होता है। इसी से घन होकर कुछ लोग पय से विचलित हो जाने हैं और उनके द्वारा पागण्ड तथा घाडम्बर को प्रथम मिलाता है।"

गीताराम चरित रह गया। अपने समाज की ऐसी बटु बिन्तु यथार्थ ध्यातव्यता कोई साधु कर सकेगा, इसकी उसने कल्पना भी नहीं की थी। गुरु की स्पष्टवादिता, जिसमें आत्म-दुर्बलता की सहज स्वीकृति थी, देखकर उसका मन थड़ा से भर गया। नमस्तेक उनके चरण छूकर बोला—“प्रभु ! भगवान्‌वश मैंने बेंगा बह दिया था। बन्तुन साधु-समाज सदैव ही बेंग है मुझ जैसे साधुमोह से निष्पन्न सतारी प्राणी को उनकी निष्ठा, तपस्या और साधना पर कुछ बहने का अधिकार है भी नहीं। मुझे क्षमा कीजिए।"

स्वामीजी को लगा—गीताराम का मन ग्लानिवश कुटित

हो गया है। उसे संकोचमुक्त करने के लिए कहने लगे—“मैं प्रसन्न हूँ कि तुमने ऐसा यथार्थ प्रश्न उठाया। विषय का सम्बन्ध हमारा-तुम्हारा वैयक्तिक नहीं, सारे समाज से है। और, आज ही नहीं, सदा से गुण-दोष संसार के प्रत्येक प्राणी में रहते आए हैं, रहेगे। यह सृष्टि का एक शाश्वत नियम है।”

“फिर भी मनुष्य विवेकशील होता है, और साधु को तो ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। उसकी दृष्टि सामान्य मनुष्यों से भिन्न होती है। वह किसी भी प्रकार का हो, सामान्य होता है।”

“यह केवल भावना की बात है, यथार्थ रूप इसके सर्वथा विपरीत है। रामायण और महाभारत के काल में भी बंधकों-पाखंडियों का अस्तित्व रहा है। कालनेमि की कथा सुन चुके हों न ! आज के युग में कितने ही साधु देखने वाले व्यक्ति, वास्तव में उसी के प्रतिरूप होते हैं। यही कारण है कि अब दिन-प्रति-दिन धर्म का ह्रास होता जा रहा है और जन-सामान्य के मन में ईश्वर के अस्तित्व को लेकर संकाजन्य विवाद उठते रहते हैं।”

सीताराम ने देखा—स्वामीजी स्पष्टवक्ता है। न अपने प्रति दुराग्रह है, न दूसरे के प्रति तिरस्कार। वे जो कुछ कह रहे हैं, सर्वथा निर्विकार मन से और स्वानुभूति के आधार पर ही। गद्गद होकर बोला—“आपका आदेश शिरोधार्य है महाराज !”

स्वामीजी को स्मरण हुआ—मैंने उससे यकान का प्रश्न किया था। कहने लगे—“मुझको ही देख लो, कहीं तुमसे विश्राम के लिए पूछ रहा था, और कहीं प्रसंग की सीमा से परे जाकर दूसरों की आलोचना करने लगा। इसी से तो कहता हूँ कि मनुष्य-राज दुर्बलताओं का दास है। ज्ञान का दंभ करने वाले भी दुर्गुणों का आगार होते हैं।”

सीताराम ने कोई प्रतिवाद नहीं किया।

में कह रहा था—स्वामी सहजानन्द एक क्षण तक रुककर बोले—“सूर्यास्त निवट है। तुम निश्चय ही थक गए होंगे, क्योंकि ब्रह्म-मूर्त से भव तक अविराम गति से चलते रहे हो। भतः उस मन्दिर के पास रात में विश्राम कर लो। प्रातः ब्रह्म-मूर्त में फिर चलेंगे।” और उन्होंने सामने दीख रहे एक मन्दिर के शिखर की ओर संकेत किया।

गुरु के प्रेरणा निदेश की ओर सीताराम ने देखा—लगभग बीस की दूरी पर किसी मन्दिर का स्वर्ण-कलश अस्तोन्मुख सूर्य की किरणों से प्रदीप्त होकर अपने संस्थापक की कीर्ति विकीर्णित कर रहा है। निश्चय ही स्थान रमणीय और शान्तिप्रद होगा, इस प्रेरणा से उमने कहा—“यह बहुत ही शुभ है स्वामीजी ! यहाँ मैं विश्राम के लिए देवस्थान का सामीप्य प्रायः दुर्लभ रहता है, पर मेरे लिए आपके पुण्य प्रताप से इस निर्जन वन में वह भी सहज गुलम हो गया।”

“चलो चलें, सूर्य ऋगवान भी विश्राम करने जा रहे है। थोड़ी देर में घोंघेरा छा जाएगा।” कहकर स्वामीजी सामने की पगडंडी पर अग्रसर हो गए।

सीताराम पीठ पर उनका बम्बल और पूजन सामग्री लादे प्रगल्भ पगों में चलता रहा। अपने गुरु की विद्वत्ता, दिव्य ज्ञान और शौन्य पर उसे अगाध श्रद्धा थी।

और उसकी इस श्रद्धा के मूल्य में अर्थाविवशाम नहीं, पिछले कई वर्षों का अनुभव था। लक्ष्मण, स्वामी सहजानन्द का व्यक्तित्व प्रियदर्शी था। और बल्लु, तंजावी नेत्र, जिनमें शान्ति और क्षमा भलकती रहती थी, ज्ञान-आत्मा का सूक्ष्म प्रकाश मनाट, प्रशान्त मृगमण्डल, जिस पर सुविता सूचक दिव्य चानि छाई रहती थी, और अमृत वर्षा करने वाली मधुर काली। वे दामव्रह्मचारी थे।

आकाश कुल में उत्पन्न हुए थे, किन्तु मत्तोंकी गंगार के मन्द
 विद्यालय के लिए काफी जाने की अभिनव परम्परा का विरोध
 करने मधुसूत ही काफी बने हुए थे । माता-पिता, बृद्धों और
 पुत्रों मधु मगभा-कुमार हुए मधु, पर मगभा की छोटे नहीं ।
 मधु उनका नाम मगमहन् था । उसी मगमहन् मगमहन् ने काफी
 आकाश विद्या और वाक्पुत्र में गुरु में दीक्षा लेकर मुखा-
 मगभा के प्रथम परगना में ही मगमगी हो गया । गुरु ने मानकर
 दिया था मगमहन् । वही मगमहन् मग मगमहन् के गुरु थे ।
 मगरे भाग्य का कई मग मगमहन् कर गुरु थे । वेद-वेदाङ्ग में मगमहन्,
 वाक्पुत्र और पुत्रों के मगमहन् थे । मग, मगमहन्, मगीत और
 मगमहन् कई मगमहन् मगमहन् के मगमहन् थे । किन्तु इनकी मगमहन्, इनकी
 मगमहन् और ऐसा मगमहन् मगमहन् मगमहन् भी वे मगमहन् मगमहन्
 मग, उदार और मगमहन् थे । मगमहन् को उन्होंने पूर्णतया निरस्त
 कर दिया था और मगमहन् की प्रवृत्ति से कोमों दूर थे । मगमहन्
 नाते उनके मग एक मगमहन् का मगमहन्, एक मगमहन्, मगमहन्,
 मगीत, मगमहन् और मगमहन् था, मग । मगमहन् को कोई मगमहन्
 न थी । जब जो मगमहन् मिल जाता, वही मगमहन् होता था ।

मन्दिर की मगमहन् दूरी मगमहन् होते-होते मगमहन् का मग भी मगमहन्
 की मगमहन् में मगमहन् रहा । ठीक इमी मगमहन् मगमहन् दिशा से मगमहन्
 का एक मगमहन् उड़ता मगमहन् पूर्व की मगमहन् गया, जैसे मगमहन् ने
 मगमहन् में मगमहन् विजय-मगमहन् मगमहन् हो । दूर मगी कोई
 मगमहन् मगमहन्; मगमहन् मगमहन् का मगमहन् मगमहन् मगमहन् कर रहा
 हो । मगी-मगी दिग्दाह मगमहन् मगमहन् और मगमहन् की मगमहन्
 मगमहन् में मगमहन् होने मगी । मगमहन् ने मगीमहन् से मगमहन्
 मग मगमहन् में मगमहन्—“मग, मग मगमहन् । मग मगमहन्, मगमहन् की
 मगी मगमहन् दे रही है ।”



में मूर्ताकार लड़े मन्दिर के वृष्ण वत्सेवर की घोर देखते हुए
पुछा ।

“प्रयाग के एक ब्राह्म ने । वह लक्षापीठ था । किन्तु मपार
गम्भिर होते हुए भी वह मन्तानहीन था । सन्तान कामना से ही
उमने इस मन्दिर का निर्माण कराया था, किन्तु मूर्तियों के अभाव
में उसका मनोरथ पूरा नहीं हो सका ।”

“वह मूर्ति कहीं थी ?” जिज्ञासा और चौकल ने सीताराम
को खिन्न कर दिया था ।

“प्रयाग में । वह आज भी वही दिव्यमान है ।”

“कच्छा !”

“ही, विचार हो, तो लौटने समय देव लेना ।”

‘आने लो अथवा ही उमका दर्शन किया होमा ।’

बई बार ।”

प्रयाग में गंगम के पास टीक समुता किनारे ही हनुमानजी
की लब विद्यालयप्रय प्रतिमा है । वह मयन-मुद्रा में वही स्थापित
है । बर्दाबन् छादिबाग में है, बर्दाबि उमके निर्माण अथवा
स्थापना का कोई दृश नहीं मिलता । वह वर्ष के नौ महीने सुखी
धूम में रहती है और वर्षा ऋतु में जब समुता का जलस्तर बढ़
जाता है, उमी में डूब जाती है । फिर लीन महीने उसका दर्शन
हमें मिलता है । उमी व पास एक शिव-विमल था । किन्तु अब वह
नहीं है । बर्दाबन् लुप्त हो गया ।”

‘तो बर्दाबन् ने उमी शिव-विमल को वही स्थापित करने
का विचार किया था ?’

‘ही, वीमी बर्दाबन् ने उमे बताया था कि प्रयाग में
समुता के लड पर शिव और हनुमान की दो प्रतिमाएँ मूलम में
हस्त कर रहीं हैं । यदि उन्हे इस मन्दिर में स्थापित कर सकें,

"यह तो मूर्खता का प्रपमान था।

"फिर भी उसे सफलता नहीं मिली।"

"हाथी चले नहीं थे?"

"चले थे; किन्तु धकेले। मूर्तियों को वे खींच नहीं सके। ज्योही महावत् ने संकुच मारा, दोनों हाथी क्रोध से बिपाड़ उठे। अपने शरीर से बँधे हुए भार का उन्हें बोध हो गया था। उन्होंने मूँड़ उठाई और पूरी शक्ति से मूर्तियों को खींचने के लिए पैर बढ़ाये; किन्तु कुतकार्य न हो सके। वे मोटी-मोटी लौह शृंखलाएँ पटककर इस प्रकार टूट गईं, जैसे मृणाल टण्ड हो। एक नहीं, अनेक बार यही उपाय किया गया और परिणाम भी सबका यही निकला।"

"अन्ध हो भगवन्!" सीताराम न भावाकुल होकर आकाश की ओर हाथ जोड़ दिए।

"दूगरे हाथी मँगाए गए, दूसरी शृंखलाएँ आईं, दूसरे श्रमिक आए, किन्तु परिणाम वही रहा। समाचार पाकर बहुत-से नगर निवासी भी आ गए थे। वे सब बौद्धमार्ग से लड़े देस रहे थे, और बौद्ध धर्म एक प्रयाग में असफल होकर दूसरा प्रयाग करने लगता था।"

"उसे अपने दुःखदृष्ट न उपहास अथवा निन्दार का भय भी नहीं रह गया था, अन्धका ऐसा कृत्य न करता।"

"मन बनाया न, कि स्वार्थ में विवेक नष्ट हो जाता है। बौद्ध को सोच न औरत के सीमा से बाहर कर दिया था। वह उस घृष्ट पक्षी की भाँति प्रयागरत था जो दरवाजे में अपनी ही छाया पर चबुप्रहार करके स्वयं को क्षत-विक्षत कर लेता है।"

"ही स्वामीजी, निन्दक ही वह बौद्ध विवेकरहित था।"

"एन में उसे स्वयं हुआ कि मैं अन्धदि काल से घरी हूँ और

स्वामीजी ने परम संतुष्ट भाव से उसे धारवस्त किया—“एक पहर रात जा चुकी है। सब विश्राम करो। मैं ब्रह्म-मूर्त में जगा दूंगा। बिल्कुल बोलना मत, चुपचाप मेरे पीछे-पीछे चल देना। यह यात्रा मौन धारण करके ही पूरी होगी। मौन भंग होने से हम धपने लक्ष्य को नहीं पा सकेंगे, उसे न भूलना। जब तक मैं सम्बोधित न बन्दू, चाहे जैसी स्थिति आ जाए, तुम एक भी शब्द न बोलना।”

“जैसी आज्ञा प्रभु।” सीतागम ने हाथ जोड़कर गुरु का निर्देश स्वीकार किया।

ठीक इसी समय वही आकाश में उड़ रहे गाय्त्रियों के जोड़े का ग्वर वायुमण्डल में गूँजा।

गुरु और शिष्य दोनों ‘ॐ नमो नारायण’ का उच्चारण कर निद्राधीन हो, सोने लगे।

रात का तीसरा पहर आरम्भ होने पर स्वामीजी की निद्रा भंग हुई। उठे। आकाश की ओर देखा। लगे अभिमन्त्रित रहे थे। पूर्व में दृढ़ सूर्य उदय हो रहा था और वायु में स्थिरता लीनता आ गई थी। उन्होंने सीतागम का जगान का विचार किया, फिर न जाने क्या सोचकर एक गान। बहावित उसकी वमन्त्रित पर द्रवित हो गए थे। बिल्कुल यात्रा पूर्ण करना भी आवश्यक था।

तब ?

एक क्षण के लिए वे विचारमग्न हो गए। महंगा बाईं उपाय कल्पित्व में बौध गया। प्रसन्न हो उठ और वमन्त्रित से अच्युती से जल लेकर सीतागम के ऊपर छिड़क दिया।

वह जल गायारंग नहीं था, अभिमन्त्रित था। उसमें असम्भव का सम्भव और अकल्पित का प्रत्यक्ष कर दिखाने की क्षमता थी। उसकी बूँदें जैसे ही सीतागम के ऊपर पड़ी, उसकी निद्रा क्षणिक

सूर्योदय बेला समीप थी। गुरु को प्रणाम करके उसने कहा—
 “महाराज ! यकान के कारण ऐसी निद्रा घाई कि समय का
 ध्यान ही नहीं रह गया। क्या आप बहुत देर पहले से जाग रहे
 हैं ?”

स्वामीजी ने मुस्कराकर उत्तर दिया—“जो भी हुआ, सब
 ठीक था। सब उठो और निवृत्त होकर चल दो। अभी एक कोस
 चलना है।”

‘एक कोस ! तो क्या उनकी सब दूरी केवल एक कोस में
 ही मिमटकर रह गई है ?’ सोताराम चकित हो उठा। गुरु के
 वाक्यों पर उसे कुछ भ्रम हो गया। सोचने लगा—कदाचित् मैं
 ठीक से सुन नहीं पाया। पूछने के लिए स्वामीजी की ओर मुँह
 उठाया तो आस-पास का दृश्य देखकर स्तब्धित रह गया। वहाँ न
 पिछली सध्या वाला मन्दिर था, न बिल्ब वृक्ष और न ही वह
 कुर्पा। उस स्वप्नवत् परिवर्तन को देखकर वह दायेंक को अभि-
 भ्रुन रह गया, फिर स्वामीजी से हाथ जोड़कर बोला—“प्रभु ! मैं
 दिग्भ्रमित हो रहा हूँ। यह दृश्य उस स्थान से भिन्न प्रकार का
 है, जहाँ मैं सध्या को सोया था। मेरा कौतूहल शान्त कीजिए।”

“हाँ, यात्रा आवश्यक थी; किन्तु तुम क्लान्तिवश तो रहे थे;
 घन मैने तुम्हें जगाया नहीं, अपने साथ लिए चला आया।”
 स्वामीजी ने निरभिमान स्वर में बताया।

“भरे ! आप मुझे टाँगकर लाए ! मेरा यह अपराध अक्षम्य
 है गुरुदेव ! इससे मृत्ति कैसे या सर्कूला !” सोताराम ने भक्ति
 विह्वल होकर उन्ने चरणों पर गिर रख दिया।

“उठो, विलम्ब करना उचित नहीं है। थोड़ी दूर चलकर हम
 पाण्डुपुरी की सीमा में प्रविष्ट हो जाएँगे। उसी के घाने, एक घने
 वन में महान्मा जीवदाम का आश्रम है। वहाँ पहुँचकर विस्तार से

‘मैं वही तुम्हारा भगवान तो सामने लड़ा हूँ भक्तवर ।’ उस देवता ने फिर समझाया ।

किन्तु जियानास सन्तुष्ट नहीं हुए । बोले—‘यदि सचमुच आप मेरे धाराध्य प्रभु हैं, तो चलकर मेरे नगर में निवास कीजिए । मैं वही भी आपके चरणों में रहना चाहता हूँ ।’

‘तुम्हारा अनुरोध मुझे स्वीकार है । चलो, मैं कुछ दिन पीछे तुम्हारे आश्रम में आऊँगा, जब इच्छानुसार मेरी निवास-व्यवस्था कर लेंगे ।’

जियानास ने गद्गद होकर प्रणाम किया, किन्तु जब सिर उठाकर ऊपर देखा तो वह देवप्रतिमा ध्वस्तार्धित हो चुकी थी । ठीक इसी समय पास की गुफा में किमी नपम्बी ने गणध्वनि की । सुनकर जियानास चौक पड़े । निद्रा भंग हो गई । उठ बैठे । देखा तो सूर्योदय बान निवट आ गया था । दाहर धारा । निवृत्त होकर बट्नीज की पूजा की घोर उसी मध्याह्न की घणन नगर की घोर घर पड़े । न जान बोन रह रहकर उन्हे स्वान-मवाट पर आश्वस्त कर रहा था ।

बानी में विराम होकर स्वामीजी न नि स्वाम लिया घोर मोन हो गए ।

सीतागम न सोचा — बदाचित स्वामीजी घर गए है अन्यथा क्या का जेप भाग भी गुनाह । उसने पूछा — महाराज क्या बिश्राम करेंगे ?

“ॐ समोनाशयण ।” का उपचारण करके स्वामीजी ने उत्तर दिया — ‘नही । धर्मी बसे चला । धारा जब घमनाला है बही टहरेगे ।’

‘विर जियानास का क्या हुआ प्रभु ।’ सीतागम न सकुचिन बहर में शपथी जिजाया बयन की ।

बड़े-बड़े बुद्धिवादियों को भी मूक कर देता है ।" स्वामीजी ने सीताराम के सिर पर हाथ फेरकर आशीर्ष दिया ।

सीताराम उठा और नितान्त दबोघ बालक की भाँति गुरु के पीछे-पीछे चलने लगा ।

गृह त्याग के पश्चात् सीताराम ने कभी उमका स्मरण भी नहीं किया । धन, सम्पदा, पत्नी और पुत्री सब उसकी दृष्टि में तूण्यवत् हो गए थे । वह सर्वस्व त्यागकर इस पथ पर आया था । बहुत दिनों तक स्वामी सहजानन्द के शिष्य के रूप में रहा । फिर उनकी आज्ञा से विधिवत क्रिया निष्ठा के द्वारा सन्यानाश्रम में प्रविष्ट हुआ और स्वतन्त्र माधु के रूप में विचरने लगा । घूम-घूमकर ईश्वर के सभी योग स्थानों, विद्यालयों बौद्ध-बिहारों, जैन मन्दिरों और बनो पर्वतों का भ्रमण ही उसकी दिनचर्या बन गयी ।

इस क्षेत्र में आकर उसने संस्कृत का अध्ययन भी कर लिया और बड़े-बड़े धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने लगा था । अपनी तपस्या के लिए वह जितना प्रसिद्ध हुआ उतना ही विद्वत्ता के लिए भी । बड़े-बड़े विद्वान उसके सम्मुख नमस्कार ही जानते थे । पर उसमें घटम् नहीं आता । मईय वैसा ही विनीत, निरीह बना रहा ।

माधु जीवन व्यताने पर उसका नाम राघवदास हो गया था । उसकी भारी क्वालि इसी नाम से हुई । महात्मा राघवदास की धर्मा सर्वज्ञ होती थी । किन्तु वह राघवदास पहलें का सीताराम गायक है, यह भेद किसी को नहीं ज्ञान था । राघवदास ने कभी इसे प्रकट भी नहीं किया । वह अपने वर्तमान में संतुष्ट थे । जहाँ भी जाने, राजारामानों जैसे उनकी प्रार्थना होती थी ।

उपर पर में कामना अब स्वतन्त्र थी—निरहुता । मुक्त भाव से संगीत का अध्ययन करती रही । गायन-बादन और नृत्य में

खट्-खट्-खट् !

भीतर सोमदत्त बैठा कुछ पड़ रहा था। ध्यान भंग हो गया।

उमने सिर उठाकर द्वार की ओर देखा।

तब तक कुण्डो फिर खटकी—खट्-खट्-खट् !

‘कौन है ?’ सोमदत्त ने स्वयं से प्रश्न किया और उठकर द्वार की ओर चला। अनुमान नहीं कर पा रहा था कि कौन आया है ?

द्वार खुलने ही उसने देखा—रामना का एक सेवक खड़ा कह रहा है—“सोमजी ! (यह आचार्य वृद्ध में इसी शब्द से सम्बोधित होता था) आपकी स्वामिनी ने बुलाया है। कहा है—‘मैं मृत्यु दर्शन करना चाहती हूँ’।”

“कोई विशेष बात है ?” सोमदत्त ने चञ्चित होकर पूछा।

“बढ़ नहीं सकता।” सेवक ने हाथ जोड़ दिए।

“वे स्वयं हैं न ?”

“हाँ, सोमजी ! कोई बेसी आश्चर्यजनक बात नहीं है। कदाचित् किसी निजी विषय पर बातें करना चाहती है।”

सोमदत्त आश्वस्त हो गया। रामना ने प्रति जो दुरिज्जना की छाया उसके मस्तिष्क में उठी थी, मिट गई। बोला—“टहरो अभी राय चलता हूँ।”

“कोड़ी देर बाद बढ़ बपड़े पहनकर रामना से मिलने चल

अपने देश का राष्ट्रीय संगीत मुझे बहुत प्रिय है। सामाजिकों में भी भरत-नाट्यम और मणिपुरी की प्रशंसा आज भी अधिक हो रही है। इन दोनों विषयों में लालसा को पारगम होना है। अतिरिक्त ज्ञान जो प्राप्त हो सके, उसे विशेष कृपा मानूँगी।

एक क्षण विचार मग्न रहकर मोमदत्त बोला—“तब तो दैनिक रूप में शिक्षा देनी होगी।”

“वह तो होगा ही।”

मोमदत्त चुप रहा।

कामना ने उसके धन्तर्द्वन्द्व का अनुमान करन ही कहा—

“सही, मेरे पास छावर रहो। सारी भविष्य में सुलभ रहेंगी। लालसा छाटी पहर तुम्हारे नियन्त्रण में रहेंगी। उसे जब भी, जैसे देश से चाहो, शिक्षा देकर योग्य बनाओ। इस प्रकार हम तुम भी एक-दूसरे के प्रति निकट रहेंगे और हमका मैं हृदय में आभार मानूँगी।”

मोमदत्त ने देखा—कामना का स्वर कुछ अधिक विनम्र लगन और सरस हो गया है। उसकी छाँवों में एक आनुरता एक खजलता झलक रही है। पहले का विराग-अवधान आज बहुत दूर चला गया प्रतीत होता है।

मोमदत्त के भीतर एक प्रकार की स्थिति जैसी दौड़ गई। न जाने कौन-का सोया हुआ भाव एक बाग़ी जाग पड़ा। उसने इनने उल्लास और आनुरता के साथ कामना का निवेदन स्वीकार कर लिया, जैसे किसी नव विहीन व्यक्ति का दिव्य-दृष्टि मिल गई हो।

बसंत कामना का सामीप्य ही उसके जीवन का एक अत्यंत लक्ष्य था। उसकी निरंतर उमने न जान किन्ने अद्वितीय स्वप्न देखे थे। आज के सब गाँवार हीन जा रहे थे। जिन कामना की मूर्ति

“ममय की चिन्ता नहीं—भारमुक्ति का-गा अनुभव करके सोमदत्त ने नम्बी नाम लीची, लो उसके आत्म मनोप की सूचक थी। फिर पूर्ववत् प्रगल्भ आत्मोप स्वर में बोला—“अधिक से अधिक जितना भी ममय लगे, मैं सह्य हूँगा। नाममा का जीवन यदि मेरे द्वारा ननिक भी मृगी हो सकता है, तो उसके लिए मैं दो वर्ष तो क्या, दस वर्ष तक शिक्षा दे सकता हूँ। और जैसा कि तुमने कहा है, मैं गर नहीं दूँगा। मुझे न दस पद का मोम है न मैं अपने को इसके योग्य मानता हूँ। नटस्थ भाव में तुम्हारा मित्र होने के लिये, यथामध्यमेव-महा दाग करने को प्रस्तुत हूँ।”

तो फिर क्या मे ?

सोमदत्त ने अपने मुँह की ओर नजंजी-मण्डपा के पर्शों पर कोई गणना करने लगा। छोटी देर बाद उसने कहा — परमो गुरुवार का प्रभाव बहुत ही श्रेष्ठ होता है। इसी दिन में छाऊँगा। वह नामने वाले बादम्ब दल का चबनरा ही पाटनाला बनेगा। एक तो वाटिका के भीतर एकान्त स्थान है, फिर प्राकृतिक वातावरण भी मनोन्म है। मगीन के लिए ऐसा ही स्थान उपयुक्त होता है। परमो आकर दीक्षा दादन में ही शुभारम्भ करूँगा। भगवान् शिव की कृपा हुई तो, कुछ ही दिनों में नाममा देव-प्यापी नीति अजित कर लेगी। हमारी प्रतिभा पर मुझे विश्वास है।

परम मन्त्रुष्ट होकर कामना ने हाथ जोड़ दिये। उसके मुख पर विजय मुक्क तुष्टि का आह्लाद चमक रहा था।

सोमदत्त बँटा मोच रहा था—बदचिन मानवनी मनी।

कामना ने एक मेदक की ब्लाकर आदेश दिया—“निव-
दाम, आप (सोमदत्त) मेरे अनिधि हैं। अभी कई महीने रहेंगे।
मेवा का भार तुम पर है। किसी प्रकार बूटि न होने पावे। पूरी





से काट रही थी ।

संकीर्ण प्रतिक्षण सारम्भ हुआ, तो मोमदत्त नालमा की प्रतिभा पर चरित रह गया । उसकी मेघागविन अद्भुत थी । मोमदत्त को कोई भी दान एक बार से अधिक बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी । नालमा पूर्व ज्ञान की भाँति वह सब कण्ठस्थ कर लेती थी । मायन-बादन के जटिलतम सूत्रों को भी नालमा ने इनकी सरलता से सीख लिया जैसे बट बच्चों का कोई मनोरंजन हो ।

मोमदत्त भी उन्मादित हुआ । प्रतिभाशाली छात्र को पढ़ाने में छायापत्र की गति स्वभावन होती है । फिर नालमा में तो और भी कई विशेषताएँ थी — वह मोमदत्त की प्रेमसी की पुत्री थी । अपवनी और बका-वृत्तल थी । जीवन की सीमा में प्रवेश करते ही उसके मन-मन का सदा स्वार्थीक लक्षण बखरम छावृष्ट करने की समता रहता था । वह मोमदत्त का बिल उस घर बंदी में कैदीभूत हुआ । वह भी वा साम मन्त्रा निर्दिष्ट एक लौकिक शास्त्री था । मन की मन्त्रा मोह मोह में पड़े बंसे जा गवनी दी । मोमदत्त भी मनस्थ था और मनस्थ में मन्त्र मन्त्रन सामर्थ्य । वह पण्डित का भगवान नहीं था जो कल्पित दुर्गा की लप में भी उपस्थित रहता । वह साधारणतया ईश्वर की मला का जीदल समान था । नालमा व दान उसके मन में दानादाम ही एक प्रकार की छायाशिला एक प्रकार का सार-मन्त्र हो गया । वह दलधिल होकर उस निहाल दल बना ।

नालमा का दमिन्धक जिन लक्ष्यों में बना था । उनमें विद्वान्ति नाम का दोष दान कपट भी नहीं था । मोमदत्त ने जिनमें भी स्वयं, वाग उपगम लक्ष नाम और लक्ष कर्मा के अद-अभेद बनाए सामान्य में गहरा ही गहरी लक्ष निद । लक्ष की दानक मोहक मुद्राओं का हमने ऐसा दानास कर लिया था कि सामान्य





“हाँ, सत्य यही है।”

“यह सत्य नहीं है।”

“फिर क्या है ?” स्वार्थ की छाँवों में उसे जना की लपटे उठ
भाई—

“बताऊँ ?” विवेक ने व्यस्य-भरी मुस्कान से प्रश्न किया।

स्वार्थ चिढ़ गया। मुँह बनाकर बोला— “हाँ, हाँ बताओ न।”

“यह सत्य नहीं है, यह सत्य है।”

“क्या कहा ?” स्वार्थ उड़ते ही उठा।

“मैं कहता हूँ—यह सत्य नहीं है यह सत्य है, पाम्फण्ड है।
विरहामयान है। तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।”

“तुम्हें दो करना चाहिए वह मैं तुमसे अधिक जानता हूँ। तुम्हें
ज्ञान मन मिलाओ।

कम से कम कामना के नाम लो मोचो।

“उसी के नाम मोच रहा हूँ भाई। वह न होनी लो यह कुछ
न होना।”

“घरछा।” उसी के कारण ऐसा मोच रहा है ?

“हाँ, हम सारी घण्टानि का जिसे तुम घर्षितकरना रना रहे
हो, एकमात्र कारण यही है। उसका दिना प्रतिपाद विना मैं एक
गान भी घण्टानि में मा न सकूँगा।

उसे लो तुम प्रेम करन हा फिर भी प्रतिपाद की
भावना ?”

बैसा प्रेम ? वह सब मिथ्या है। सब मन में कामना के
प्रति प्रेम का एक भी घण्टा शय नहीं रह गया। सब भी कुछ है,
वह घण्टा। विरहित की प्रतिपाद का दुगुण रूप है।

“क्यों ?”

“उसमें रूप है, रस है। उसके व्यवहार में लपट है। स्वयं

प्रात्म-देमन को, ऐसी गृष्ठा को कभी स्वीकार नहीं कर सकता । मेरा नरय घोर मिष्टान्त पहले से भिन्न रूप ले चुका है । भव में जीवन के उपभोग का समर्पक हूँ, पलायन का नहीं ।”

“कैसा दुःखभोग करोगे ?”

"हाम-विलास और आनन्दमय जीवन व्यतीत करेंगे।"

"लेकिन तुम तो त्यागी हो ! सर्वम्य त्याग च्छे हो ?"

"हममें क्या होता है ? म्यागी से घाटी बन जाऊंगा । सब कुछ फिर से सृजन कर दूंगा । हममें किसी की कृपा नहीं लेनी है । दो यन्त्रों द्वारा सब कुछ होगा । हम जीवन में स्वयम्भूत का जाणगा ।"

“ਬੀਨ-ਸੀ ਦੀ ਬਜਾਏ”

‘कचन खीर बार्मिनी । कचन मे बार्मिनी भी मुख्य हो
जाती है । गुना नहीं गर्वगुणा बावनमाधुर्यम् । निश्चिन्त
होकर दीदन का आनन्द प्राप्त करने का यही सही नैतिकता है
यही मेरा मन्त्र ।’

विवरित सचित्र तृप्ता दलना दृग्गतात्मा मुक्त एवैव उच्यते इति
तथा :

* पार्श्वोपाय-एक न बना दिया।

"ना एव तुम वा कामना की कामना नहीं है।"

"मही एव त्वायमा ब । मायमा ।"

' बस हस चुनी बर गच्छान '

[illegible]



आत्म-दमन को, ऐसी कुण्ठा को कभी स्वीकार नहीं कर सकता । मेरा सद्य और सिद्धान्त पहले से भिन्न रूप से चुका है । अब मैं जीवन के उपभोग का समर्थक हूँ, पलायन का नहीं ।”

“कैसा उपभोग करोगे ?”

“हास-वितास और आनन्दमय जीवन व्यतीत करूँगा ।”

“लेकिन तुम तो त्यागी हो ! सर्वस्व त्याग चुके हो ?”

“इसमें क्या होता है ? त्यागी से घाही बन जाऊँगा । सब कुछ फिर से ग्रहण कर लूँगा । इसमें किसी की कृपा नहीं लेनी है । दो वस्तुएँ प्राप्त करूँगा इस जीवन में स्वर्ग-मुख प्राप्त होगा ।”

“कौन-सी दो वस्तुएँ ?”

“कचन और चाँदनी । कचन में चाँदनी भी गुलब हो जाती है । गुला नहीं- सर्वगुणा काचनमाश्रयिन । निश्चिन्त हास्य जीवन का आनन्द प्राप्त करूँगा, यही मेरी नैतिकता है, यही मेरा मयम ।”

विवेक चकित हुआ । “तुम्हारा दुस्साहस तुम से बड़ा दुस्साहस हो गया ?”

“परिस्थितियों ने कर दिया ।

“तो, अब तुम से चाँदनी की चाँदनी नहीं है ?”

“नहीं, अब आलस्य की आलस्य है ।

“क्या उसे पूरी कर सकाग ?”

“अब तो तुम देख लो ! चाँदनी की आलस्य की उरी होनी लगी है । चाँदनी की बलीभूत बरबे रहूँगा । मेरा आत्मदान गाय हो रहा है । चाँदनी से पहले वाला संकोची सोमदत्त नहीं हूँ । अन्धकार घनगाँव सुनकर, पाँच बड़ों तक गारे देस की घुल छानकर सम्मानित सतीसता के मध्य सम्मान पाकर अब भी कुछ अनुभव प्राप्त कर रहा हूँ । ये कुछ सर्वविद्या के सम्मान क्या है ? यदि मैं इनका हृदय जीन ल

उसने अपने को परम निर्विकार बनाकर वैसे ही उत्साह भरे स्वर में उत्तर दिया—“इसी की तो प्रतीक्षा कर रहा हूँ।”

“तो फिर चलो न !”

उत्तर में सोमदत्त उठकर कामना के पास धा गया और थोड़ा गम्भीर होकर बहने लगा—“देखो कामना, मुझसे औपचारिकता न किया करो। मैं तुम्हारा सेवक हूँ—भाजाकारी दास ! मुझे भाजा दिया करो।”

“घन्य है ! घन्य है ! —कामना ने मोली बिखेरते हुए कहा “यदि ऐसे भाजाकारी और बर्तव्य निष्ठ अनुचर सप्ताह की दशमाष्ट स्त्रियों के पास भी हो जायें, तो नारी जाति स्वर्ग तक में अपना शासन स्थापित कर सकती है।”

सोमदत्त, कुछ समय पूर्व के अन्तर्द्वन्द्व से अभी पूर्णतया मुक्त नहीं हुआ था। भ्रमवश उसे कामना का परिहास अपने प्रति व्यर्थ प्रतीत हुआ। मन ही मन निर्लज्जता उठा। प्रतिकार की भावना और तीव्र हो गई। फिर भी उसने अपने को संभाला और मधम के स्वर में बोला—“न कभी समझ नागी-जानि स्वर्ग में शासन स्थापित कर सकी, तुम्हारे लिए तो वह महज मुनम है।”

“बेमे ?” हम प्रज्ञा से कामना चिन्तित हुई।

“देवता और मयवं भी तुम्हारी मादक दृष्टि के वशीभूत हैं। अप्पराये तुम्हारे रूप पर मुग्ध हैं। विमर्शित तुम्हारे नृत्य-गान से ईर्ष्या रखते हैं। तब स्वर्ग का अधिकार प्राप्त करना तुम्हारे लिए बटिन बड़ी रहा ? कोई भी बाधा तो नहीं है। तुम्हारा प्रकृति-विलास ही वहाँ का दासक होगा। किसी प्रकार की चिन्ता प्रयत्न भय में दटने की आवश्यकता नहीं है।”

“यह बर्तव्य वहाँ से लाये आचार्यजी ? यात्रा तक तो तुम्हारे मन्त्रिण में यह बीटानु नहीं रहा, जब कैसे उत्पन्न हो



यही तो सेवक का धर्म है ।

इस आत्मधिकार से, इस प्रतारणा से सोमदत्त क्षुब्ध हो उठा । किसी भीषण संकल्प से, किसी दृढ़ निश्चय से उसकी मुट्ठियाँ बँध गईं । भ्रुकुटियाँ बक हो उठी और मस्तक पर विद्रोह सूचक रेखायें उभर आईं । भविष्य की चिन्ता नगण्य हो गई और परिणाम का चिन्तन कायरता का व्यंग्यपूर्ण घट्टहास जैसा प्रतीत होने लगा । एक दीर्घ निश्वास लेकर उसने निर्णय लिया—लालसा से अपना लालसा व्यक्त करके, किसी भी उपाय द्वारा उसे अपने उपभोग की वस्तु बनाऊँगा ।

कामना अब तक चार पग आगे जा चुकी थी, किन्तु सोमदत्त का निश्वास उसने मुन लिया । घूमकर देखा, तो सोमदत्त की मुद्रा उसे अस्वाभाविक रूप में गम्भीर प्रतीत हुई । समझ गई कि आज इसका मन किसी कारण बोझिल हो रहा है । उमी त्वग्नि गति से सौटकर वह पाम आ गई और पूछने लगी—“क्या आज अप्रसन्न हो ? यदि चित्त विवर्ण है, तो रहने दो, मैं नहीं जाऊँगी । तुम विधाम करो ।”

सोमदत्त संभल गया । जैसे वायु का भोका तिनके को उड़ा ले जाता है उसी प्रकार अन्नवैदना का प्रसंग टालने हुए उसने एक-बारगी हँसकर कहा—“इतने में ही अधीर हो गई ? मैं तो तुम्हारी परीक्षा ले रहा था कि देखूँ तुमने कितना साहस है ? चलो आगे-आगे अभी सौटना बीता ? आज तो मोका-बिहार करना है ।”

“अच्छा ! तो तुम भी परीक्षा लेना जानते हो ? मैंने नहीं समझा था कि तुम इतने मायावी हो ! बलौ देर बहूत हो गई । गुर्यास्त का समय निबट आ रहा है । ऐसा न हो कि सौटने में रात हो जाय ।” कहकर कामना नदी की ओर चल पड़ी ।

सोमदत्त भी उसके बराबर चलता रहा ।



हसी बना दिया था। अब वह निरन्तर किसी न किसी पद्यन्त
की रूपरेखा सोचा करता था। यद्यपि दिनचर्या वही थी। लालसा
को संगीत निद्या देने का कार्य नियमित रूप से चल रहा था; पर
उममें अब वह तल्लीनता, वह सदादायता नहीं रह गई थी। एक
प्रकार की औपचारिकता जैसी निभाई जा रही थी, जो मानसिक
विरक्ति की सूचक होनी है।

उम दिन सोमदत्त और लालसा दोनों बद्धम्वकुंज में बैठे एक
ध्रुपद की व्याख्या कर रहे थे। थोड़ी देर बाद सोमदत्त ने स्वर्णों
का मृदंग से साम्य करने के लिए अनाप लिया—

“दीनन दुग हरन ना-न-न-य, बज के बसइया...”

लेकिन दूसरा चरण गाते ही वह चौक पड़ा। वस्तुतः वह
एकाग्र मन नहीं था। मुँह से ध्रुपद की व्याख्या कर रहा था, वितु
नेत्रों और मस्तिष्क से लालसा के रूप लाक्षण्य की। इसी घस-
मूनन के कारण वह ध्रुपद के साथ भण्डान का चरण जोड़ बैठा।
जैसे ही उमके विंगम दोष का अनुभव हुआ, सोमदत्त की आँखें
मात्र से भूक गईं। तब जैसे कूटित हो गया। शिष्या को सिगाने
ममय तेसी भूल। ध्रुपद में भय का मयोग। अपनी मनोदशा पर,
अपनी भाति पर सोमबज, वह निश्चिन्त हो गया। न मृदंग पर
धाय दे गया, न ध्रुपद के आगे-पछागे की संभाल सका। उमे
गुंभ ही न पड़ा कि क्या करने? दण-भर को मृदु जैसा बैठ
रह गया।

आलगा स्वभावतः चपल थी। जीवन का वायु तपसों
उमे और भी वाचाल बिग रहता था। इन दिनों वह बीड़ा-
बीनुक और हास-विमोह में अधिक रुचि लेने लगी थी। जान
पड़ता था उगरी लुगता हठी उपकरणों के बीच अपना अभीष्ट
साज रही है। सोमदत्त की भाति पर वह हंस पड़ी—“घटे,



की रेखायें उभर आईं । बोली—“तो, क्या आपने सद्य किया है कि शिक्षण के समय मेरा ध्यान कहीं अन्यत्र रहता है ?”

“एक नहीं,—सोमदत्त ने दृढ़ मधुर स्वर में कहा—“अनेक बार । मैंने कई अवसरों पर देखा कि मैं तुम्हें संगीत मिला रहा हूँ और तुम आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की, घघवा डाल पर बैठे कपोतों के जोड़े को देखने में तल्लीन हो । उस क्षण तुम्हारी मुद्रा से प्रकट होता था कि कोई अभाव, कोई तृष्णा तुम्हें आकुल कर रही है । मैं कहता हूँ—तुम इन दिनों अपनी किसी इच्छा का बलात् दमन कर रही हो ।”

“अरे !” लालसा ने चौंकर उमड़ी और देखते हुए स्वयं से कहा—तो यह संगीतज्ञ क्या मनोविज्ञान का भी पण्डित है ? नहीं तो इसे मेरी हृदयगत भावनाओं का आभास कैसे मिला ? निश्चय ही मेरी कोई दुर्बलता इसके समक्ष प्रकट हो गई है ।

प्रकट में बोली—‘समा करे सद्य यह है कि निरन्तर के एकाकी जीवन से अभी-अभी आकुल हो उठनी हूँ’ । उस समय मन में यही कल्पना उठनी है कि यदि मैं भी पक्षी होनी, तो इसी प्रकार स्व-छन्द भाव से आकाश में विचरण किया करती । आप स्वयं देखें कि कितना स्वतन्त्र और निश्चिन्त जीवन है इन पक्षियों का ।”

“तो, तुम गगनचारिणी बनना चाहती हो ?” सोमदत्त के घघरों पर अन्तस् की वासना, मुस्कान के रूप में झलक उठी ।

लालसा उसके उपातम्भ पर मुकन रूप से गिलखिला उठी । उसकी इस गिल-खिल से दोनों के हृदय गिल गए । अवसाद मिट गया । नेत्र एक-दूसरे की घोर सारस भाव से स्थिर हो गए ।

“यदि तुम पक्षियों की भाँति परम स्वतन्त्र भाव में घरनी-आकाश में विचरण करना चाहती हो, तो मैं बचन देता हूँ कि निश्चय भविष्य में तुम्हें ऐसी सुविधायें अवश्य प्राप्त कराऊँगा,

सोमदत्त का रोम-रोम तुम्हारा है । उसका मन-प्राण सदैव ही तुम्हारी सेवा के लिए प्रस्तुत है ।”

किन्तु लालसा ने उसका यह मौन संदेश, यह प्रणम-निर्देश मुना-समझा ध्येयवा नहीं, कोन जाने ?

उम दिन का प्रशिक्षण औपचारिकता मात्र बनकर रह गया । न सोमदत्त तनमय होकर सिखा सका, न लालसा मनोयोगपूर्वक सीख सकी । दोनों एक दूसरे के प्रति अनेक प्रकार की धारणायें बनाने रहे; जिनका केन्द्र-विन्दु था—क्या मेरे मन का भाव प्रकट हो गया ?

लालसा तर्क-जाल में उलझी हुई थी ।

“क्या, उन्होंने मेरे ऊपर ध्येय किया है ? पर स्वयं भी तो उसी रोग से ग्रस्त दीख पड़ते हैं । माताजी के ऐसे भाजाकारी दास बब से घोर क्यों हुए ? सदैव विशिष्ट जैसे दीख पड़ते हैं । कभी-कभी तो ऐसी अस्वाभाविक चेष्टायें करने लगते हैं कि विशिष्ट रूप से उद्भ्रान्त बहे जा सकते हैं । संगीत प्रशिक्षण में भी संतुलन नहीं रख पाने । आरोह-अवरोह घोर लय-ताल में व्यतिक्रम आ जाता है ? किसी त्रुटि की ओर ध्यान आकृष्ट करती हूँ, तो जैसे स्वप्न मात्र हो जाने से चौक उठते हैं । अवश्य ही इनके मन में कोई बेदना, कोई अभाव है, जो इन्हें इस प्रकार अस्त-व्यस्त किए रहता है । तो जब यह स्वयं अथवार में पथ-विस्मृत है, तो मेरा मार्ग-प्रदर्शन कैसे करेंगे ?

‘टीक’ इसी प्रकार के अनुमान, लालसा के प्रति सोमदत्त के मन में उठ रहे थे—

“इस युवनी का भविष्य, अस्तिपर अनिश्चित और लक्ष्यहीन है । उस नील-जंजीर और संस्कृति का इसमें सर्वथा अभाव है, जिनके आधार पर नारी जाति मन्द्य और पूज्य है । निश्चय ही

सोमदेव ने अब नि स्वाग लिया और हाथ भटककर खड़ा हो गया। निन्दव्य की दृढ़ता ने स्नायुमण्डल को भ्रमभोर दिया। राणभर के लिए दान्य की ओर स्थिर दृष्टि से देखकर उसने अपनी मोहना को एक बार फिर मन ही मन सोचा, और तब परमघादवस्त भाव में एक ओर चल पड़ा।

द्वार के समीप पहुँचकर लगने लगा—मेवक औरव था रहा है।
 टहकर लगने पड़ा—‘भैरव !’

“हो, स्वामी।”

“गढ़ दृढग्य हो चुका है न ?”

“जैसा आपने कहा था, लगभग सब हो चुका है।”

“लगभग ? लगभग का अर्थ अनिश्चित भी हो जाता है। क्या अभी कोई बाधें रोकें हैं ?”

“हो स्वामी, रथ की व्यवस्था अभी नहीं हुई। जो रथ आया था, उससे आरंभ की परीक्षा करने पर दक्षिणायन सवाजनव निकला था। अतः लगभग तीन मीटा दिया है। दूसरा रथ दो-तीन दिनों में भी आगया होगा। वहीं का प्रतिनिधि कह रहा था।”

“गढ़व है, वह भी क्षुत्पूजं और सवाजनव हो।”

“हो, भाष चिन्ता न करें। सब ऐसा नहीं होगा। सागंधी से मैंने कह दिया कि वह हम लोग विशेष श्यान देकर रथ का दृढग्य



मृग्यन कह देना । इतने संकोच और उलझाव का क्या प्रयोजन ?

उसने सहज शांत भाव से कहा—“मुझे अपनी सेवा से विलग न करे दही मेरी याचन है । आपकी सेवा मेरे लिए ऐसा साधन है जिसके द्वारा मैं संसार की समृद्धि का सुख पा सकता हूँ प्रभु ! मुझे इसमें बंदिन न कीजिए ।”

“निश्चिन्त रहो—सेवक के आचरण पर उसकी सविनय मामोना पर और निश्चिन्त सेवा-भाव पर सोमदत्त ने सहज प्रगल्भता से कहा—“यह तो तुम्हें पहले से ही प्राप्त है । तुम बाल्य-काल में मेरी सेवा करने चले आ रहे हो । तुमसे मैं इतना मृग्यन हूँ कि पृथक् करने की कल्पना भी नहीं कर पाता । भैरव विद्वान् मण्डो, संवत् होकर भी तुम मेरे स्वजन की भाँति हो !”

बुनारु हो गया स्वामी !—भैरव आनन्द विह्वल होकर सोमदत्त के पैरों पर बैठ गया—“आपकी छाया में रहने हूँ । मुझे, अग्नि जल और वायु भी नहीं छू सकेंगे । आपमें विनम्र हो कर मैं एक क्षण की भी गूरी न रह सकूँगा । ऐसा उदारमना और क्षमाशील स्वामी सहज-मृग्यन नहीं होता । जानता हूँ कि एक स्वजन की भाँति आपकी सेवा करना हूँ, और इसी में मेरा जीवन समाप्त हो जाय ।”

‘आह ! ऐसे वरज दावा कदो कह रहे हो भैरव !’—सोमदत्त ने कंधे पर उठकर उठे उठा लिया और कहन लगा—“इसकी आबरूचना ही नहीं पड़ेगी । जब तक मैं जीवित हूँ तब तक किसी प्रकार का अभाव आन नहीं कर सकेंगा यदि देवान् मेरा जीवन बिना दिव समाप्त हो तो जाय तो भी मेरी और मे तुम्हारे लिए ऐसी व्यवस्था रहेगी, जिसके आधार पर तुम आजीवन मृग्यन-मृग्यन का उपभोग कर सकोगे ।”

विनाश, उसके विचार, रहन-सहन और मुख कांत सर्वमें अन्तर
 गया था। एक प्रकार का प्रच्छन्न विद्रोह, प्रतिरोध की अदम्य
 छा, मनस्तुष्टि के लिए कुछ भी कर डालने का उन्माद और
 अपने रूप-गुण का गर्व उसमें प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता था। शांतिवादी
 और संकोचशील होने के स्थान पर अब वह कठोर और साहसी हो
 गया था। उसकी इस दृढ़ता और मनोबल का आभास उसके शब्दों
 में भी मिल पाता था। अब उसकी बाणी वैसी दीन और याचना
 सूचक नहीं थी। उसमें आत्म-बल और पौरुष की गर्जना सहज
 वर्णित हो जाती थी। किन्तु यह सब होकर भी वह असंतुलित नहीं
 था। अपने बाह्य-चार को यथाशक्ति नियंत्रित रखता था। अतः
 आत्म-मा और वामना को उसके आन्तरिक भावों का पता नहीं चल
 सका। वे उसके प्रति वैसी ही आदर्यवता और निश्चिन्त थी।
 उन्होंने स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं की कि आज का मोमदत्त वह
 दिवानन्द है, जिसमें तबराकर दृढ़तम वस्तु भी भिन्न-भिन्न हो
 सकती है।

मोमदत्त अब भी उसी सोलथी के पत्ते को देखन दृष्ट मोच
 रहा था—

आज अनेक सम्मानित नागरिक मेरा आदर करने हैं। उनका
 मेरे लिए मुलम है। कितने ही दृष्टि राज्य बसंचानी भी मेरे
 ऊपर कृपा करने हैं। दोहा-बहुत पत्र अजित कर चुका हूं। वस मे
 वस, पत्रों का बाधा संबंध फिर मे पास में था गया है। किन्तु यह
 असाधित, यह शोभ विजना विधालित करना रहता है। वामना ने
 मुझे धर्म समझा !

तो ? क्यों न उसी का हस्तगत कर लूं और तब पुनः जारी है
 मुझारी वह पनि-अर्पित? लेकिन मुझ ही अन्तर्गत में एक विद्वत्-पमदी
 पृष्ठा के साथ उसे अकर्मयोग— “उहें। अब उगमे क्या है ?” वह



“क्या कहा ?—क्रुद्ध सविणी की भाँति फुँकारकर कामना ने उसकी धीर देखा—“सोमदत्त ? मैं कहती हूँ—सावधान ! शब्दों पर सदा रसकर कुछ कहा करो । यह बसो मूने जा रहे हो कि मैं बड़ी कामना हूँ, जिसके पद-रज से तुम अपना जीवन सार्वक कर सकने की माधना आज मे भी ग्न हो । मैं नहीं समझ पाई थी कि तुम इतने कृतघ्न धीर झूठ हो ।”

“क्या ? मैं क्या हूँ एक बार फिर तो कहो ।”

झूठ, कृतघ्न, सम्पट, पाण्डो, समस्य । क्या-क्या कहूँ तुमको ? तुम मनुष्य के रूप में राक्षस हो राक्षस ! मैंने अब समझा । चलो—कामना पण्डी की भाँति खड़ी हो गई धीर आदेश भरे स्वर में कहने लगी— लौटाओ नौका । मैं अब आगे नहीं आऊँगी मून रे भैरव ! मुझे दे पतवार धीर वह सोमदत्त के हाथ से झाँड़ लेन के लिए उसके पाम बढ गई ।

सोमदत्त विषयित हो उठा । क्रोध ने उसे उन्मत्त कर दिया था । वह यह भी नहीं मोच पाया कि मैं क्या करने जा रहा हूँ । जैसे बपोन पर मचान टूटता है, ठीक उसी प्रकार वह कामना की धीर झपटा धीर बिद्युत्-गति से उसका कमनीय कलेवर अघर में टाँग लिया । क्रोध धीर हिंसा ने उसे इतना विवर्ण और पाश-बिब रूप दे दिया था कि कामना सिहर उठी । किन्तु सोमदत्त ने फिर कोई सकल्प-विकल्प, नर्क-विनर्क नहीं किया । वैसी ही सिंह-गर्जन के स्वर में कहना रहा— ‘पार्थिवसी ! ते, रूप के गर्व और प्रेम की प्रतारणा का फल भोग ।’ और दूसरे क्षण अपनी पूरी शक्ति से उसने जीवित मौदय-प्रतिभा को धारा में फेंक दिया ।

नौका अब भी धारा के साथ बहती जा रही थी । इसकाण्ड को देखकर वह क्षणिक के लिए हगमगाई, फिर मत्तुलित होकर पूर्व-वत् बहने लगी ।

घाने बुरा और उसकी सफलता पर वह मन ही मन प्रसन्न हो उठा। घाने की योजना ने उसे उत्साहित कर दिया था। भैरव से बोला—“भैरव ! नीचा तट पर बांध कर सालसा के पास जाओ और जैसे भी सम्भव हो, उसे बाटिका के द्वार तक ले जाओ। मैं वहीं मिलूंगा। साथ में अपना रत्न कोष और कोई सस्त्र भी लेते जाना। यदि मैं न मिलूँ, तो घोड़ी देर प्रतीक्षा कर लेना।”

भैरव ने डौड़ चलाने हुए कहा—“जैसी आज्ञा। किन्तु आपके लिए कोई आशंका तो नहीं है ? यदि किसी संकट की सम्भावना हो तो पहले उसमें रक्षा का उपाय करें।”

“जो परेगा, सहन करेगा। तुम सीधे सालसा के पास जाओ और बिना इस घटना की खबर किए, कोई कल्पित आवश्यकता बताकर उसे बाटिका-द्वार पर घाने की प्रेरणा दो। घाने, मैं संभाल लूँगा।”

“आप निश्चिन्त रहें, स्वामी। मैं बड़ी सरलता से उसे ले आएँगा।”

“जया शिव बाबा है न ?”

“हाँ, प्रभु। मौनश्री के सीधे लहा है। छोटे सबल और बेगवान हैं। आप प्रसन्न मन से उसका उपभोग करें।”

“जाओ, किन्तु ध्यान रहें—मानस को घबेरी ही लाता। कोई लगी-झड़ी न रहना चाहिए। कोई दासी यदि आए तो उसे लौटा देना। दुर्गरे की उपस्थिति से मेरे कार्य-क्रम में बाधा आ सकती है।”

भैरव ने नीचा घुमाई और बिजारे लगाकर उतर पड़ा। बोला—“आप बही खरें, मैं उसे लेकर आऊँगा।”

शंभुदेव कुछ बोला नहीं। खुशाय बाटिका को और घूम पड़ा। भैरव ने लगी निबामो और नीचा को लुटे से बांधकर



इन्द्रप्रस्थ की सीमा पार करके जब सोमदत्त राजस्थान के मार्ग पर पहुँचा, तब उसका मन कुछ घावग्रस्त हुआ। मन्तोष और आति की मांस लेकर उसने श्व गोक दिया और भैरव से बोला—“भैरव ! अब हम लोणी का मार्ग निगमद है, यहाँ से धीरे-धीरे चलेंगे उतर पहा और घोड़ी देर विश्राम कर लो। यह देखो, पास में कुशा है और दरगद की छाया भी। दोपहर इस जगह पर घामे चलेंगे। तब तक भोजन की व्यवस्था करेंगे।”

“जैसी आपकी आज्ञा। कहकर भैरव उतर पड़ा। सोमदत्त भी उतरा। भैरव ने तीनो घोड़े एक डाल से घटका दिये, और उनके चारा-पानी तथा अपने भोजन की व्यवस्था में जुट गया।

सोमदत्त ने तामरा की गठनी निवाली और उसे सोलकर बाहर ले आया। यद्यपि उसके मुँह में सब कपड़ा नहीं भरा था, और इन्द्रप्रस्थ में भोजन कर लेने के कारण वह अधिक भलीन भी नहीं हुई थी; फिर भी हम अप्रत्याशित घटना-क्रम ने उसे इतनी एवित और मूमुँस कर दिया था कि वह हतप्रभ जैसी हो रही थी। मुख की आति क्षीण हो गई थी और रोगी रहने के कारण आँखों में लानी गया मूजन आ गई थी। सोमदत्त ने हम आचरण ने उसे इतनी दुःख और विमुद कर दिया था कि वह मृत्ति के लिए चित्ता भी नहीं मक्ती थी। और यदि चित्त्वानी भी, तो व्यर्थ।

भैरव उतर पड़ा था। उसने पूछा—“स्वामी मेरे लिए क्या मांगा है?”

“उग पर बैठ लो”—याग सड़े घोड़े की ओर संकेत करके सोमदत्त ने उसे कहा—“और मेरे साथ चलो।”

भैरव ने थोड़ा खोल लिया और उछलकर उमकी पीठ पर सवार हो गया। सोमदत्त का रथ उतर की ओर अग्रसर हो गया था। भैरव भी उमका अनुसरण करता रहा। क्षण-भर में कामना का वह राज-मवन, और नन्दन कानन जैसी बाटिका दोनों सूने हो गए।

सोमदत्त रथ-संचालन में कुशल था। वायु वेग से घोड़ों को उड़ाता हुआ, अपने अनिदिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ता रहा। सारी रात चलकर प्रभात के समय वह इन्द्रप्रस्थ पहुँचा। भैरव छाया की भाँति उसके साथ था। भोजन, विश्राम के पश्चात् उन्होंने नये घोड़े लिए और सिंधु प्रदेश की ओर बढ़ चले। उनकी योजना थी—अपने स्थान से कहीं दूर जाकर, हम छद्म नाम से नया जीवन आरंभ करेंगे।

इन्द्रप्रस्थ की सीमा पार करके, जब सोमदत्त राजस्थान के मार्ग पर पहुँचा; तब उसका मन कुछ घाव्गम्य हुआ। सन्तोष और आति की मांस लेकर उसने रथ गोक दिया और भैरव से बोला—“भैरव ! अब हम लोगो का मार्ग निरापद है, यहां से धीरे-धीरे चलेंगे उतर पड़ो और थोड़ी देर विश्राम कर लो। यह देखो, पास में कुशा है और बरगद की छाया भी। दोपहर ढल जाने पर घागे चलेंगे। तब तक भोजन की व्यवस्था करो।”

“जैसी आपकी आज्ञा।” कहकर भैरव उतर पड़ा। सोमदत्त भी उतरा। भैरव ने तीनो पांके, एक डाल से घटका दिये, और उनके चारा-पानी तथा अपने भोजन की व्यवस्था में जुट गया।

सोमदत्त ने लासमा की गटनी निवाली और उसे खोलकर बाहर से घाया। यद्यपि उसके मुँह में अब कपड़ा नहीं भरा था, इन्द्रप्रस्थ में भोजन कर लेने के कारण वह अधिक मलीन भी हो गई थी, फिर भी हम अग्र्याशिन घटना-क्रम ने उसे हतनी और मुमुंख कर दिया था कि वह इन्द्रप्रस्थ जैसी हो रही थी। जाति क्षीण हो गई थी और रोगी रहने के कारण घालों ली तथा सूजन घा गई थी। सोमदत्त के इस आचरण ने उसे शङ्क और विमूढ़ कर दिया था कि वह मुक्ति के लिए भी नहीं मरने ली थी। और यदि चिल्लाती भी, तो व्यर्थ।

सोमदत्त का नियन्त्रण इतना कठोर और सजग था कि उससे बच निकलना सर्वथा असंभव प्रतीत हो रहा था। यदि रथ पर से कूद डूँती, पीछे-पीछे यमराज का प्रतिनिधि भैरव चौकसी करता हुआ चल रहा था। वह धनुष-बाण और भाले से सुसज्जित था। यह आतंकमयी व्यवस्था देखकर लालसा निराश हो गई थी। वह चुपचाप रथ के कारागार में गठरी बनी बैठी रही और सोमदत्त निर्विघ्न गति से आगे बढ़ता रहा।

बरगद के नीचे छाया और ठंडक थी। वायु का प्राणप्रद स्पृश पाते ही लालसा के शरीर में स्फूर्ति का संचार हो आया। उसने एक बार इधर-उधर देखा; फिर सोमदत्त से बोली—“भापने मुझे यह किस अपराध का दण्ड दिया है ?

“लालसा ! मुझे अपने कृत्य पर स्वयं परचात्ताप हो रहा है। किन्तु क्या करता, विवश था; इसके अतिरिक्त मेरे सामने कोई दूसरा विकल्प ही नहीं था। जानता हूँ कि तुम्हें बहुत कष्ट हुआ है, किन्तु इसे कम करने की न तो मुझमें सामर्थ्य थी, और न।” इच्छा।”

सिद्धि गम्भीर स्वर में लालसा ने कहा—“मुझे आपसे ऐसी आशा नहीं थी। माँ से वंचित करके मेरा अपहरण करने का प्रेरणा आपको किसने दी ? आप तो ऐसे व्यक्ति नहीं थे !”

“प्रेरणा देने वाले को न पूछो लालसा ! उसका नाम मुनकर कष्ट होगा। वह तुम्हारा परम आत्मीय व्यक्ति है।”

मेरा आत्मीय है ! कौन है वह ?” लालसा चौंक

। माँ !”

भय आश्चर्य और विषाद भी भ्रंभा से अस्त-व्यस्त सा-
सोमदत्त का आशय समझ नहीं सकी। उसने पूछा—“यह।
कैसे कह रहे हैं?”

“तुम्हारी माँ ने मुझसे कहा था—‘तुम इसके गुरु न हो
सकोगे। केवल मेरे नाने, सगीत विद्या में इसका पथ-प्रदर्शन कर
दो; बस’ तुम्हारी विधिवत् दीक्षा के लिए उन्होंने मयपुरा के
मानन्द स्वामी का नाम लिया था। अस्तु; मैं सर्वथा प्रीति का
अनुयायी हूँ और इसीलिए तुमसे स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि अपने
निश्चय पर दृढ़ रहूँगा। साथ ही तुम्हें यह भी विश्वास दिलाता
हूँ कि मुझसे प्रणय करके तुम्हें किसी प्रकार का अभाव पीडा
नहीं कर सकेगा। तमारा का वैभव और गुण तुम्हारे प्राप्ति करके
बड़ा रहेगा। हाँ, एक बात और कहूँगा—मेरे साथ बचना अवश
विरहित का परिणाम तुम्हारे लिए भयकर हो सकता है।”

“मुझे सोचने का अवसर दीजिए”—हाथ जोड़कर शीर्ष
निःस्वाम के साथ मातृमा ने कहा—“उम परवर्तता में मेरा निरा
आत्म-निर्णय नहीं होगा, यह आप स्वयं मोच सकते हैं।”
गोमदत्त ठठाकर हँस पड़ा।

मातृमा को उमकी हँसी अस्वाभाविक प्रतीत हुई, श्रंगे कोई
पिनाच हँस रहा हो। वह भय-वाक्य शोकर उमकी ओर देखने
लगी।

हँसी रुकने पर गोमदत्त ने कहा—“आत्म-निर्णय हो या न
हो, मैं निश्चिन्त हूँ। आत्म-निर्णय का माध्यम सम्भव भी तो नहीं
है। मन ने तुम सेही नहीं। यही निर्णय है। मन की स्थिति तो
मन में प्रसिद्ध है, उम पर विश्वास करने करो। अपने को पीडा
करो? मातृमा! तुम जानती नहीं—कहो-कहो गोमदत्त का स्वर
‘दर, दाद’ हो उठा—आत्म-निर्णय की परिधि का क्या मतलब है।

तो मैं राह का भिखारी हो गया। वह पाप, वह छल अब अपने साथ नहीं करूँगा।”

उसकी मुद्रा और स्वर में सहसा यह परिवर्तन देखकर लालमा चकित हो उठी। भय का स्थान जिज्ञासा ने ले लिया और शोक का रूप सहानुभूति का बलेवर धारण करने लगा। सोमदत्त के प्रति उसकी जानकारी बहुत कम थी। उसे केवल इतना ही ज्ञात था कि यह मेरी माँ का असफल प्रणयी और घाजाकारी दाम है, वन। इधर, कुछ दिनों से उसमें हो रहे परिवर्तन को देखकर वह चकित थी। किन्तु कभी किसी से कुछ कहा नहीं था। कहनी भी, तो क्या और क्यों ?

वस्तुतः, सोमदत्त में आषाढ मस्तक परिवर्तन हो गया था। जो पहले मिनभाषी, दैन्य पीडित और कुण्ठग्रस्त था, वही अब स्वस्थ, बाबान संपन्न और आशावादी हो गया था। रूप सावण्य में पहने भी कम न था और अब तो और भी आकर्षक हो गया था। आत्म-विद्वाम की ज्योति से प्रदीप्त उसके तेजस्वी नेत्र दूर से ही बना देने से कि यह व्यक्ति दुर्दिनस्वयी और पुरोपायी है। अब वह पहले वाला अवन्ति का श्रेष्ठपुत्र और नरुंकी का दास सोमदत्त नहीं, उन्मत्त भारत का विख्यात सगीताचार्य सोमदत्त नादशास्त्री था जिसके मुख पर अधीनता की छाप नहीं, बल्कि अधिकारों की चानि थी। आत्म-ज्ञ के प्रभाव से, वह पैंतीस वर्ष का हो जाने पर भी बीस-बाईस वर्ष का स्वस्थ-मन्दर मुखक प्रतीत होता था। विराम, जब से कामना के प्रति उसके मन में विराम और बिद्रोह उत्पन्न हुआ, वह बहुत सजेज दिखाई पड़ने लगा था।

मन में उठ रहे चालईन्द्र से क्षण-भर के लिए जवान् मुक्ति लेकर आसना के नातिव ने सोमदत्त की ओर देखा और उसकी विवेचना करने लगा—पुरुष ही तो है; फिर मेरा पूर्वपरिचित भी।

मान-प्रतिष्ठा के साथ सम्पत्ति भी इसे गुनम है। जब किसी का आश्रय लेना ही है तो इसी को क्यों न स्वीकार कर लूँ? बिना पुरुष के जब नारी का जीवन एकांकी और अपूर्ण रहता है, तो क्या मैं एकांकी और अपूर्ण जीवन में सुखी रह सकूँगी? नहीं कभी नहीं। किसी न किसी समय मुझे अपने लिए एक साथी खोजना ही पड़ेगा। तब? क्यों न इसी को वरण कर लूँ? अपरिचित व्यक्ति के प्रति तो एक शंका भी हो सकती है— न जाने वह कैसा हो? और इसे तो कुछ निकट से देख भी चुकी हूँ! इस समय इसके वश में हूँ, विरोध करके कोई लाभ नहीं उठा सकूँगी। अभी इसकी बात स्वीकार कर लूँ, फिर देखा जाएगा।

प्रकट में उसने कहा—“आपके अधीन हूँ। विरोध करने का सामर्थ्य नहीं है। बलात् भी आप मेरा उपभोग कर सकते हैं। न जाने किन परिस्थितियों ने आपको इतना कठोर बना दिया है कि उनकी प्रतिश्रिया स्वरूप, आपसे मुझे ऐसा मुकल्पित व्यवहार मिला। अस्तु; नारी के लिए पुरुष का सम्बल आवश्यक है। मुझे भी अपने लिए कोई न कोई संबल खोजना पड़ता। तब आप ही को पना आघार बनाती हूँ। जैसा उचित समझें, आप मेरे साथ बहार करें। और वाक्यान्त में परास्त भाव से उस शून्य की ओर देखने लगी, जहाँ सर्वस्व गँवाए हुए व्यक्तियों की दृष्टि बरबग केन्द्रित हो जाती है।

“निश्चिन्त और निर्भय मन से मेरे साथ रहो। अब कोई अभाव, कोई असंतोष तुम्हारी छाया भी न छू सकेगा।”

“किन्तु मेरी माँ? क्या अब उन्हें कभी नहीं देख सकूँगी?”

“हाँ, उनके तुम्हारे बीच अब इतनी दूरी आ गई है कि भेंट नहीं। उनकी आशा छोड़ो। तुम्हारे लिए मैं और , बस।”

“इतने बठोर हो गए। पाप ! क्या मेरी माँ मर्दा के लिए मृत् नहीं गई ? हाय ! माँ ! ओ माँ ! आह !” इसके आगे जानमा कुछ न कह सकी। कण्ठावरोध ने विवश कर दिया और वह मुँह ढीककर रोने लगी।

सोमदत्त थोड़ी देर चुपचाप बैठा रहा। बड़ाबिन् अपने मृत्यु और लालसा की मनोदशा का विवशपण कर रहा था। जानमा की मिमकारियों ने उसके मानस को छू लिया। यथा मभव स्थल को मधुर बनाकर बोला—“खेद न करो लालसा ! मैं भी मनुष्य ही हूँ, पशु नहीं। तुम्हारी वेदना की समझता हूँ पर क्या करना, विवश था। अधीर न होकर वर्तमान का वर्णन करो और मेरे माथ अपने भविष्य को संयुक्त करके जीवन-मय पर आगे बढ़ो। जैसा कि पहले कह चुका हूँ—परिस्थितियाँ ही विश्व की निर्मात्री हैं। उचित, अनुचित और पाप-पुण्य की परिभाषाएँ स्वयं परिचलन-शील हैं। मैं ग्रन्थों का गमयक हूँ। अतीत का स्मरण प्रमादियों का अनोरजन है और भविष्य की चिन्ता कायरों की भीरुता। मैं पुरु-मार्थी उसी को मानता हूँ जो वर्तमान को अपने अनुकूल बना ले।”

जानमा ने फिर एक निश्वास लिया। वह उसकी क्लान्ति और पराजय का सूचक था। निराश बाएँ में बोली—“चेष्टा कहेंगे कि आसको सन्तुष्ट कर सकूँ। किन्तु इस समय मैं बहुत दुःखी हूँ। मेरा व्यवहार आपको प्रमत्त नहीं कर सकेगा। चाहें जन्म-जान मस्कार बहिन चाहें मेरी मानसिक दुर्बलता; मैं अपनी माँ व लिए व्याकुल हो रही हूँ। उसे भी आप माथ लेने आने, तो मुझे कोई दुःख न होना।” माँ का प्रसंग आने ही वह गम्भीर हो गई। मोह का मस्कार उसे व्यथित करने लगा और आँखों में दो मोती झलक पड़े।

शामना को जल समाधि दे देने के पश्चात् सोमदत्त की प्रति-

शोष-भावना शीत हो चुकी थी। सामगा के प्रति किए गए अन्त-
हार का मूल कारण तो उसकी काम-चुष्टा और दमन कामना
थी। त्रिग सामगा के लिए वह महीनों तक आतुर-अतुर मन से
निगा जागरण करता रहा, वही आन उसे आत्म-अमर्षण कर रही
थी। अशु-विन्दुओं ने उसे विचलित कर दिया। धैर्य और गाम्भीर्य
का कृत्रिम बन्धन उसे रोक न सका। आतुरतापूर्वक उठा और
भाषावैग में, पुण्य-प्रतिभा की भाँति सातसा की कमनीय काया
भक में समेट ली।

सातसा ने कोई विरोध नहीं किया। मृत्तवत् निश्चेष्ट बैठी
रही। उसकी पेतना का केवल एक प्रमाण था—स्वासगति।
सोमदत्त ने उसे आतुर-बन्धन में समेटकर हृदय से लगा लिया
और थोड़ी देर तक उसकी आँखों में उतरकर न जाने क्या खोजता
रहा। फिर, उसे गोद में लिए हुए एकवारणी सड़ा हो गया और
अविराम गति से कितनी ही प्रणय मुद्रायें उसके मुख पर अंकित
कर दीं।

राजा भगीरथ को गंगा प्राप्ति से जो हर्ष हुआ था, उससे
भी कई गुना अधिक सोमदत्त को प्राप्त हुआ। वर्षों से रिक्त
सका अतृप्त हृदय क्षण-भर में ही सरोवर की भाँति पूर्ण हो गया
'र अवसाद का कुहासा चीरकर उसमें भाँति-भाँति के कल्पना-
ल विकसित होने लगे।

पाँच वर्षों व्यतीत हो गए। इतना समय कम नहीं होता। मत्त भवधि में सोमदत्त की जीवनधारा दूसरी ओर मुड़ गई थी। अब उसका रूप सर्वथा परिवर्तित दिखाई दे रहा था। त्यागी-गन्यासी घपवा निराश-विरक्त न होकर आज वह एक सम्पन्न और प्रतिष्ठित गृहस्थ था। समीत-साधना ही उसकी जीविका थी; किन्तु ऐसी नहीं कि उसे कहीं झोली फैलानी पड़े। अपितु वह सदा बुलाया जाता था। बड़े-बड़े राजा महाराजा उसे उत्सव-यवों पर आमन्त्रित करते थे, जहाँ से सौटते समय पुरस्कार और पारिश्रमिक की प्रचुर धन राशि उसके साथ होती थी।

मालसा भी अब पूर्ण सुवर्ती हो चुकी थी। उसका रूप-सौंदर्य मुद्गर प्रदेशों तक चर्चा का विषय बन गया था। सोमदत्त की पत्नी के रूप में उसे और भी ख्याति मिली थी। दोनों जहाँ भी जाने, साथ-साथ। सोमदत्त वादन बजा में निपुण था और मालसा नृत्य तथा नायन में। रूपरेखा से दोनों आकर्षक तथा प्रियदर्शी थे। सोमदत्त का व्यक्तिगत जिनना प्रभावशाली था, मालसा का अपना ही अविस्मरणीय। उसका एक-एक अंग जैसे विलास और मोन्दर्य के उपादानों से ही निर्मित हुआ था। गौर वर्ण, चम्पा-पुष्प जैसी छाभा, चार चबक मेख, स्वरस दीर्घ मुञ्चाये, उन्नत उरोज, पुष्ट जघन प्रदेश, मांसल निजम्ब और उन पर सह्रानी

... पुलायत कैश २

सोमदत्त ने अपना एक निश्चित स्तर बना रखा था। उसी के अनुसार सारी व्यवस्था करता था। कामना की हत्या के बाद लालसा को लेकर कुछ दिनों तक सिन्ध प्रदेश में रहा; फिर वहाँ से कर्नाटक राज्य पहुँचा। इस बीच दो वर्ष का समय बीत चुका था और वे दोनों परस्पर तादात्म्य हो गए थे। यद्यपि लालसा के मन में अनजाने, अनचाहे कोई अभाव कसक उठता था; पर क्षणिक थोड़ी देर बाद वह फिर सोमदत्त के तन्मय हो जाती थी।

सोमदत्त के पास कुछ पूर्व सम्पत्ति थी। कुछ और अर्जित कर चुकने पर वह अपनी गृहस्थी सँवारने में लगा। भँवर तो था ही, पाँच सेवक और दो दासियाँ नई रख ली। सात वादक नियुक्त किए, जो उसके साथ, समारोह में जाते थे। चार रथ थे और दैनिक उपयोग की वस्तुओं का विशाल भंडार। लालसा के लिए वस्त्राभूषण लग। इतनी साज-सज्जा और दल-बल के साथ, वह जहाँ पहुँचता

लाग अभिभूति रह जाते थे। रूप-गुण के साथ उसका वैभव लोगों में सहज आदर और शालीनता की भावना उत्पन्न कर देता था। जब रंगमंच पर लालसा का संगीतमय नृत्य होता, उस छटा को देखकर लोग आत्मविमुग्ध हो जाते थे। वह, शक्ति वह थी, वह अनोरम दृश्य महीनों किसी को भूलते नहीं थे। इसके पुरस्कार वरूप लालसा को जो धनराशि प्राप्त होती थी, वह सोमदत्त के तब को दिनोदिन अभिवृद्ध करती जा रही थी। दशकों में कितने तो यहाँ तक कहने लगते थे—“सोमदत्त पूर्वं जन्म का कोई साध

गान्धर्व है और लालसा अप्सरा। साधारण मनुष्य में इतनी रूप-श्री, ऐसा समान संयोग कहाँ देता जाता है?”

सोमदत्त भ्रमणप्रिय और स्वच्छन्द मनोवृत्ति का व्यक्ति था। तब कर्नाटक में रहकर उसने फिर

... बार धातुज चकित रह जाते हैं। अष्टधातु से निमित्त उस प्रतिमा की दृढ़ता, सुन्दरता और भाभा का रहस्य भाज तक कोई नहीं खोज सका। वह इतनी जीवन्त है कि देखकर प्रतीत होता है—जरामरण-जयी भगवान विष्णु साक्षात् सामने खड़े हैं। देखने की इच्छा हो, तो चलो। वैसे भी यहाँ से मन उचट रहा है।”

“चलिए। मूर्ति का दर्शन करने की इच्छा मुझ में जाग उठी है। अवश्य ही उसे किसी प्रतापी नरेश ने बनवाया होगा।”

“निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु अधिकांश लोगों की धारणा है कि उसकी स्थापना उज्जयिनी नरेश महाराज विक्रमादित्य के हाथों हुई थी। चिदम्बरम् के प्राचीन ग्रन्थों में इसके प्रमाण मिलते हैं। किन्तु मूर्ति का निर्माण महाराज के समय का नहीं, उनसे सैकड़ों वर्ष पूर्व का प्रतीत होता है। महाराज को तो वह नदी में स्नान करते समय मिली थी। तब उन्होंने उसे निकलवाया और मन्दिर बनवाकर विधिवत् स्थापित कर दिया।”

“सम्भव है, वास्तविकता यही हो; कारण कि ऐसी विशाल और अद्भुत मूर्ति की स्थापना विक्रम जैसे किसी असाधारण राज पुरुष के हाथों ही सम्भव हो सकती है।”

“चिदम्बरम्-निवासी बताते हैं कि महाराज प्रतिवर्ष माघ पूर्णिमा के दिन वहाँ जाकर मूर्ति की पूजा करते थे। उज्जयिनी के लिए प्रस्थान करने के पूर्व, जब वे मूर्ति को प्रणाम करने जाते थे, तो वह सहसा कातिगुक्त हो उठती थी। उसका वह भौतिक प्रकाश पूज महाराज के लिए वरदान-तुल्य होता था। एक वर्ष मूर्ति अलोकित नहीं हुई थी, वही सम्राट विक्रम की अन्तिम यात्रा ख हुई। उसी वर्ष वे दिवंगत हो गए और चिदम्बरम् की विष्णु के वार्षिक दर्शन का वर्ष पुराना वह क्रम सदा-सर्वदा के लिए

आह्लादमयी शुचिता का प्रसार कर रही थी। जयजयकार, कीर्तन वाद्य-ध्वनि ने और जनरव ने वातावरण को इतना कोलाहल-कम्पित कर दिया था कि अपना स्वर भी दूरागत प्रतीत होता था। लगता था—समस्त विश्व की पवित्रता और उल्लास इसी मन्दिर में केन्द्रित हो गया है। धरती से अन्तरिक्ष तक सर्वत्र आमोद और भक्ति का प्रभाव व्याप्त था।

रात्रि का प्रथम प्रहर समाप्त होते ही संगीत-समारोह प्रारम्भ हुआ। देश भर के विख्यात कलाकार आए हुए थे। सोमदत्त भी समग्रीक सपत्नीक उपस्थित था। अनेक गायक-गायिकाओं ने अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन किया। दर्शक आनन्द विभोर हो उठे। किन्तु सबके अन्त में जब सोमदत्त का निर्देश पाकर लालसा रंगमंच पर आई, तो जैसे अमानिशा में सूर्योदय हो गया। मन्दिर का कण-कण प्राणवान् होकर उसकी प्रशंसा में 'धन्य-धन्य' कहने लगा।

मन्दिर की प्रकाश-व्यवस्था आश्चर्यजनक थी। आधुनिक विद्युत् उपकरण उस समय किसी की कल्पना में भी नहीं आए थे; पर भी आज के—सभ्यता के चरम शिखर पर पहुँचे हुए इग्नानिक युग के यान्त्रिकों को चमत्कृत करने वाले रासायनिक तैलों के द्वारा उस समारोह के घृत-दीपक, अपने प्रकाश से रंग-रंगीन विभिन्न प्रकार की आभा से ज्योतिषित कर रहे थे। उन रंगीन अभ्रक के पारदर्शी आवरण डालकर, इच्छानुसार उस उत्पन्न किया जा रहा था।

लालसा का नाम उससे पहले ही चिदम्बरम् पहुँच चुका था। बर्नाटक में रहते हुए उमगी ह्याति लगभग मारे दक्षिण भारत में वायुमण्डल की भाँति व्याप्त हो गई थी। जिन्होंने केवल उमगी प्रशंसा मुनी थी, वे आज प्रत्यक्ष दर्शन के इच्छाकृषे और जिन्होंने

देवन देगा था, वे उगता गागर मुनने की घड़ी में । उन सबकी धातुगता देवन एवं शब्द में गिराकर रह गई थी—घरे । जैसे ही, उगने दर्शकों की घोर उन्मुग होकर अभिवादन की मुद्रा में झुम्गाकर, अण्ड्र ही पनकों ने घीवा की ननिब झकाया, गवारे मुंह में निरला—“घरे ।

मगा—मगा का गीदर्य उग गमनीधुनि में केन्द्रित होकर मुम्गरा रहा है ।

टीक इसी समय प्रकाशकार ने अपनी कला दिखाई । गमच का वह भाग मिलने में लगी लाकर ननकी धपना प्रदर्शन करती थी, मिले हुए कमल की धाकृति का बना हुआ था - वैसे ही दल वैसा ही बीज कोश, घोर वैसे जलविन्दु । नालमा ने दो पग बढ़ाय घोर उसी कमल पुष्प पर जा खड़ी हुई । प्रकाशकार ने उस छटा की घोर अधिक मोहक बनाने के लिए दीपक के धावरण बदल दिये । पहले सब कुछ स्वेत या शुभ्र— टीक चन्द्रिका की भाँति । किन्तु धावरण बदलने ही साग गमच नीले रंग का दिखाई पड़ने लगा । वह शोभा, वह धी बिदम्बरम् वामिसो के लिए अधुनपूर्ण थी । सब कुछ नीला हो गया था । क्षणिक के लिए दर्शक यह भूल गए कि वे वहाँ बैठे हैं । गमच उन्हें सागर-सम में स्थित विष्णु सोक जैसा प्रतीत हुआ, जिसमें नालमा की रूप-छटा पद्मासना लक्ष्मी की भ्रान्ति उत्पन्न कर रही थी ।

सोमदत्त ने संकेत किया, बादको ने धपने-धपने यन्त्र सँभाले घोर घीणा, मृदग, बशी, भाँभ, घोर मजीर का समवेद स्वर गूँजे उठा । टीक इसी समय प्रकाशकार ने नीला धावरण हटाया घोर पहले की सी दुग्ध घवल ज्योत्स्ना में, दर्शकों ने देखा—सुन्दरी नालमा घालाप ले रही है—

“सखिल जगत, घा...घा...र ।”

श्रोता मंत्रमुग्ध हो गए। उनका चित्त ध्वनि-मनुभूति दलित संगीत की मधुरिमा में तन्मय हो चली। ध्वनी ध्वनिक गता भूतकर प्राणी का स्पन्दन गीत के आरोह-प्रवरोह से भावद्व हो गया। यंत्र धातित की नाईं वे गीत की लय पर मूम रहे थे। घापी रात का ममय। दण-दण पर परिवर्तित होने वाली गतरंगी। द्युति से आलोकित, पद्मासर रंगमंच पर लड़ी लालसा का नृत्य सबको आत्म विमुग्ध बनाये हुए था। उसके अप्सरा त्रिनिदक रूप और किन्नरी-विमोहक स्वर ने जैसे मोहन मंत्र डाल रखा था। लगभग एक घड़ी तक वायु को स्तम्भित रखने के बाद जब लालसा का विराम संकेत पाकर वाद्ययंत्र मौन हुए, तो जैसे स्वप्न टूट गया। जन समूह चकित होकर इधर-उधर देखने लगा। उस स्वर्गीय आनन्द की केवल स्मृति रह गई थी, बस। उसके साहम विलुप्त हो जाने से, सारे श्रोता, सारे दर्शक इस प्रकार अकुला उठे थे, जैसे दुर्घटनावश तीर्थयात्रा में अपनी सर्वस्व गँवाकर कोई व्यक्ति विक्षिप्त हो गया हो।

समारोह की समाप्ति पर लौटते हुए जन समूह की चर्चा का एकमात्र विषय था—“ऐसा रूप, ऐसी कला कभी देखी सुनी नहीं गई।”

उधर, सोमदत्त सोच रहा था—अब भाग्य ने साथ दिया है! और, लालसा अपने से पूछ रही थी—मेरा भविष्य कैसा है? दूसरे दिन सोमदत्त दोपहर के समय एकान्त में बैठा कुछ सोच रहा था। चिन्तन का केन्द्र लालसा का सहवास ही था। रूप और सौंदर्य का, पाँच वर्षों तक अबाध उपभोग कर चुकने के पश्चात् अब वह स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करना चाहता था। लालसा का सम्पर्क प्रसिद्ध-प्रद तो था; पर उसमें एक उत्तरदायित्व का भार वहन करना पड़ता था। यह सोमदत्त की प्रवृत्ति के विपरीत

क्रिया में समय पाकर अकल्पित रूप धारण कर लेती हैं।”

सोमदत्त ने क्षण-भर सोचा—कोन होगा ? फिर भैरव से कहा—“बुला लाओ।”

थोड़ी देर बाद भैरव लौट कर आया तो सोमदत्त ने देखा—उसके साथ एक युवक आया हुआ है। रूपरेखा और व्यक्तित्व से किसी सभ्रान्त परिवार का प्रतीत होता है। वस्त्रादि मूल्यवान् ; और साज-सज्जा आकर्षक-नेत्रों और अघरों से रसिकता-सूचक भावाविवर्धित हो रही है। शील और विनय की मधुरता से स्वर को अत्यधिक प्रिय बनाकर वह कह रहा है—“असमय ही आ गया हूँ, इसके लिए क्षमा देकर मेरा विनम्र अभिवादन स्वीकार करें।” यह साहित्यिक भाषा ! ऐसा शिष्टाचार ? सोमदत्त ने आश्चर्य चकित होकर उसकी ओर देखा—“भाइए, नमस्कार।”

युवक पास आकर बैठ गया।

दोनों ने एक दूसरे को जिज्ञासामयी दृष्टि से देखा।

सोमदत्त ने प्रश्न किया—“कहिए आपकी क्या सेवा कर सगता हूँ ?”

युवक ने पास खड़े भैरव की ओर ससम्बोध देखा।

सोमदत्त ने उसके असमजस का अनुमान कर लिया। भैरव की ओर देखकर नेत्रों से संकेत किया—“जाओ।”

भैरव चला गया।

“हाँ, अब आप निस्म कोच भावसे बताये, कैसे आगमन हुआ।

किस प्रकार आपके काम आ सकता हूँ ?”

“आप मुझे—युवक एक क्षण के लिए कुछ संतुष्टि हुआ ; फिर जैसे भीतर का सारा बल समेट कर बोला—“क्षमा करें। मेरा प्रयोजन बहुत ही निदनीय और आपके लिए अपमानजनक है। किंतु उसे ध्येय किंतु बिना मुझे क्षमा नहीं मिल रही थी; इसीलिए

धायी हूँ ।”

“इस क्षण को मैं अपने आपके लिए निन्दा-प्रशंसा से परे का समझता हूँ । विश्वास रखें, तनिक भी अनुरोध नहीं माँऊँगा । आप अपनी बात कहें । उसे स्वीकार कर सकूँ अथवा नहीं, यह दूसरा विषय है, पर आपका कथन मैं शान्ति-महिष्णुता के साथ सुन लूँगा, इसका वचन देता हूँ ।”

“तो, मैं लालसा के सम्बन्ध में धायी हूँ ।”

“स्पष्ट बोलिए ।”

एक रात विष्णु मन्दिर में उसका रूप और नृत्य देखकर मैं न जाने किस अतीत प्रेरणा से बहुत ही व्याकुल हो उठा हूँ । मुझे अपने में एक अज्ञान-सा अभाव, जिसके बिना जीवन निम्मार प्रतीत होता है, निरन्तर खटकना रहता है । मैं यह भी जान गया हूँ कि लालसा आपकी विवाहिता पत्नी नहीं शिष्या अथवा प्रेमिका है । न जाने कौन, मेरी अन्तरात्मा में क्या रहा है — “लालसा की अवधारणा तुम्हारा अभाव दूर करने के लिए ही हुई है ? उसके विदम्बर-आगमन का यही मूल कारण है । अतः मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप हम दोनों को दाम्पत्य मूत्र में वीध दें । हमसे उत्पन्न आपकी व्यावसायिक हानि के लिए मैं उत्तरदायी रहूँगा और जितनी भी करेंगे धनराशि देकर उसकी पूर्ति कहूँगा । मैं किसी भी मृत्यु पर लायका को प्राप्त करने के लिए कृतनिश्चय होकर हूँ, आपसे ऐसा अश्रद्धा निवेदन कर रहा हूँ ।”

युवक की आत्मकथा सुनकर गोमदरा ने एक निश्वास लिया और सोचने लगा — “क्या कहें ?”

इस समय उसके मन में एक अलङ्कार उठ खड़ा हुआ था — लालसा से मुक्ति पाने की राह में खोज रहा था । जान रहता है ईश्वर मेरी दृष्टि पूर्ति के लिए ही हम युवक को भेजा है । फिर

सोचता—पाँच वर्ष तक उसके रूप यौवन से अपने को तृप्त करता रहा हूँ, क्या अब इस प्रकार परित्याग अबका विनश्यत करना उचित होगा ?

थोड़ी देर तक उचित-अनुचित अनुरक्त-विरक्ति और लाभ-हानि के ऊहापोह में रहने के बाद उसने निरीक्षण की दृष्टि से युवक की ओर देगा। निश्छल प्राप्य, आत्मसमर्पण, एकाकीपन की व्यथा और अघरस्थ उत्सुकता के भावों से पूर्ण मुक्त मण्डल लिए वह आगन्तुक अपलक दृष्टि से उसकी ओर देख रहा था। सहज मंथन और निनम्र शालीनता से निर्मित उसके व्यक्तित्व ने सोमदत्त को आश्चर्य कर दिया। मन ही मन निर्णय किया—लालसा को सुखी रखने में यह अपना सर्वस्व अर्पित कर सकता है। बोला—

“आपने सर्वथा अपरिचित होकर भी जिस स्पष्टता से अपनी बात कही है, उससे मैं प्रसन्न चकित हूँ और वचन देता हूँ कि उस पर सहानुभूति से विचार करूँगा। किन्तु आपका प्रस्ताव बहुत ही गम्भीर है। उस पर निर्णय देने के पूर्व भली भाँति सोचना होगा। आपसे पूर्व भी ऐसे कई निवेदन मेरे समक्ष प्रस्तुत किये गए थे किन्तु मैंने उन सबको ठुकरा दिया। अस्तु; आपका परिचय मैं अभी तक नहीं पा सका।”

“परिचय तो बहुत नगण्य है—युवक ने हाथ जोड़कर उसी वनम्र स्वर में कहा—“काशी के सर्व श्रेष्ठि स्वर्गीय रत्नचन्द्र गौत्र हूँ, पिताजी सिंहल में हैं। घर में रत्नों का परम्परागत व्यवसाय होता है। तक्षशिला का स्नातक हूँ और माता-पिता की एकमात्र सन्तान। अकेले ही सारे व्यवसाय और घर का प्रबन्ध देखता हूँ। परिजनोमें माता जी हैं, तथा कुछ अन्य निकट सम्बन्धी। बस, श्री मेरा परिचय है, यही मेरी कहानी।”

“परिणाम देने वाला कोई अन्य है। कम से कम मैं, उसकी व्यवस्था में अविश्वास नहीं करता।”

“क्या लालसा को पाकर आपका जीवन पूर्ण और विकसित हो जाएगा? क्या आपके चरम सुख का एकमात्र साधन यही हो सकती है, बस?”

“निश्चय!—कंचन का स्वर आत्मविश्वास से पूर्ण था—
“पहले ही कह चुका हूँ कि यह मेरी आत्मा का आह्वान है। छब्बीस वर्ष के जीवन में, मैं आज तक कभी किसी स्त्री की ओर आकर्षित नहीं हुआ। इसे दैवी प्रेरणा ही कहूँगा कि कल रात्रि प्रथम दर्शन से ही मैंने लालसा को अपने हृदय की आराध्य देवी और जीवन-पथ की संगिनी का पद दे दिया है। अपनी अन्तिम साँस तक मैं इस भावना की रक्षा करूँगा और सचेष्ट रहूँगा कि मेरे द्वारा कभी कोई ऐसा विपरीत आचरण न हो, जो मेरे इस आदर्श पर प्रहार कर सके।”

“माप बड़े भावुक और आदर्शवादी व्यक्ति हैं।।

कंचन चुप रहा।

“संभव है—सोमदत्त फिर बोला—“इसके पूर्व इतने निकट से, और ऐसा आकर्षक, नारी-रूप देखने का अवसर आपको न मिला हो।”

“आपका अनुमान सत्य है; किन्तु भविष्य के लिए तो ऐसा नहीं कहा जा सकता।”

“एक संभावना और है—” सोमदत्त ने शक्ति दृष्टि में कंचन की ओर देखा।

“बताइए!” कंचन ने भ्रम निवारण के लिए अपनी तथ्य-रता दिखाई।

“आपकी इच्छा पति के पदचान् कुछ दिनों में, प्रथम प्रोडा-

कि मेरा यह व्यवसाय छूट जाएगा। क्या आपने इससे होने वाली मेरी हानि का अनुमान किया है ?”

“अनुमान यथार्थ से दूर होता है। आप अपनी हानि का संकेत दें मैं प्राणपण से उसकी पूर्ति का प्रयास करूँगा।”

“अच्छा !” सोमदत्त युवक के साहस पर चकित हो उठा।

“हाँ-हाँ; आप निस्तंकोच कहें—कंचन को मिथ्याभाषण से घृणा है।” कंचनकुमार की आँखों में आत्मविश्वास झलक उठा।

“तब आप दो सहस्र स्वर्ण मुद्राओं की व्यवस्था कर दें। मैं लालसा के साथ सारा दल बल आपको दहेज रूप में दे दूँगा और स्वयं एक सेवक को साथ लेकर अपने पथ की ओर चल दूँगा।”

कंचनकुमार आनन्दित हो उठा। वह इतना प्रसन्न हुआ, जैसे विश्व की सम्पदा प्राप्त हो गई हो। मुक्त भाव से विह्वल हो बोला—

“निश्चय ही मैं आपकी सेवा करूँगा। कल प्रातः यह धनराशि आपके पास आ जायेगी। और, आप भी अपना वचन पूरा कर देंगे न ?”

“अवश्य !”

“उसी समय ?”

“तुरन्त ! जब तुम मुझे मुद्रायें देने आओगे, लौटने समय लालसा तुम्हारे साथ होगी और जैसा मैंने वचन दिया है, वह सारा वैभव और आडम्बर भी तुम्हें प्राप्त हो जाएगा।”

“क्या इस समय लालसा से भेंट करना सम्भव है ?”

“सम्भव तो है; पर उचित नहीं।”

कंचन प्रश्नमयी दृष्टि से सोमदत्त का मुँह ताकने लगा।

सोमदत्त ने समाधान के लिए कहा—“वह जड़ नहीं, चेतन

ग्रीष्मकाल, सोमदत्त ने दोनों का प्रणाम लीते हुए, जीवन के एक
नये क्षेत्र में प्रवेश किया। साथ में उसका अनन्य सेवक भैरव था,
स। सेवक और स्वामी दोनों किसी अज्ञात लक्ष्य की ओर बढ़े
रहे थे। कंचन प्रसन्न था, लालसा मीन थी और भृत्यसर्व
कृत-आशक्ति-सा उनकी ओर देख रहा था।



बासी का सुप्रसिद्ध ग्गन-भवन —नगर श्रेष्ठ रत्नचन्द्र का निवास-स्थान ।

राजप्रासाद जैसे मध्य उस भवन की गगननुम्बी शट्टालिका पर केतकी पुष्पो से निर्मित 'कुमुद कुटीर' में बैठी लालसा अपने अनीत और वर्तमान का विदलेपण कर रही थी । मन और मानसिक एक दूसरे से तर्क-वितर्क, शका समाधान कर रहे थे । सोमदत्त के विद्रोह और कचनकुमार की श्रांति दोनों की अनुभूतियाँ कल्पना में साकार पड़ी एक दूसरे को परागल करने का प्रयास कर रही थी ।

एक पक्ष ने प्रश्न किया —“सोमदत्त गुणी था ।

‘ विलुप्त गुण चाहूँ नहीं ।’ दूसरे ने उत्तर दिया ।

“कैसे ?”

‘ लालसा में क्या बर्बाद थी ? रूप प्रतिभा सभी तो थे, पर वह स्वार्थी इसका सम्मान न कर सका । पाँच दशों तक इन्द्रिय तृप्ति करने अन्ततः पशु की भाँति उसे दूसरे के हाथों बेचकर भाग गया ।’

“लेकिन सुपात्र के हाथों बेचा है । यही लालसा का न वैभव की बर्मी है, न श्रेष्ठ की और न सम्मान की । पात्र वह एक मोह की पत्नी है, करोड़ों की सम्पदा की स्वामिनी है और अपने अनुपुत्र

एक स्वस्थ सुन्दर युवक को प्रेयसी है। कितना व्यवस्थित संयोग है। कही कोई त्रुटि नहीं, कही कोई व्यतिक्रम नहीं। और इस सब का मूल कारण कौन? सोमदत्त ही तो! क्या ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा नहीं होनी चाहिए! क्या वह कृतज्ञता का पात्र नहीं है!"

दूसरा पक्ष निरुत्तर हो गया। इन तर्कों में बल था।

पहला पक्ष विजय गर्व से ठठाकर हंस पड़ा।

तब दूसरे पक्ष ने क्षुब्ध होकर कंचन की प्रशंसा प्रारम्भ की—

"कंचन है—तन मन दोनों से। उसकी समता ससत्र संभव नहीं। जितना प्रणयी है उतना भावुक भी। उदारता उसका व्यसन है और रसिकता उसकी जन्म-जात प्रवृत्ति। उदास रहना उमने जाना ही नहीं। सदैव हास-विलास से उत्फुल्ल, जीवन के प्रति आस्थावान् और स्वर्ग को धरती पर साने का साहस रखने वाला ऐसा जीवन्त व्यक्तित्व कहीं दिखाई पड़ता है विपुल वैभव का एक मात्र अधिकारी कंचनकुमार यदि सुखी, सम्पन्न और गोभाग्य-शाली नहीं है तो फिर किसे यह गौरव दिया जा सकता है। कंचन की महिमा शास्त्रों ने भी गाई है—सर्वे 'गुणाकंचनमा धयन्ति।' तालमा को अपने भाग्य की भूरि-भूरि सराहना करनी चाहिए कि उसे कंचन जैसा प्रणयी पति मिला।" इस तर्क के साथ वह इतना हँसा कि तालमा तटस्थ न रह सकी। वह भी मुक्त ममथन के भाव से हँसने लगी।

ठीक इसी समय कंचन आया। तालमा ने उठकर स्वागत किया। मानगमंथन न जाने कहीं तिरोहित हो गया था। दोनों परस्पर आनिगन बढ़ हो गए। तालमा का मुँह कमल विकसित हो उठा। कंचन ने उम पर धुपने लगाए प्रेम की मुद्रा अति बरने हुए पड़ा—

"तालमा! तुम्हें पाकर मेरा जीवन सार्थक तो हुआ, पर मैं

मंगार के गुप्त-दुग, हर्ष-विषाद, और राग-विराग से परे, समाधि-लीन जैसे बं जाने कितने क्षणों तक उगी स्थिति में बैठे रहे। फिर जब स्वर्ग से घरती पर घाए, तो लालसा ने कहा।

“स्वामी एक विचार मन में उठ रहा है।”

“कहो।” कंचन ने प्रातुरता पूर्वक पूछा।

“आपका यह भवन सुन्दर तो है, बड़ा भी है, किन्तु कला की दृष्टि से रूढ़िवादी विचारों द्वारा निर्मित प्रतीत होता है। प्राधुनिक का इसमें अभाव है। आपके प्रतुल ऐश्वर्य और राजसी मनोवृत्ति के, यह सर्वथा विपरीत है। यदि उचित समझें, तो अन्यत्र एक नयीन भवन, चाहे वह छोटा ही हो; किन्तु प्राधुनिक कला के अनुरूप और साज-सज्जा से युक्त रहे, बनवा लें। मैं चाहती हूँ—वह इतना सुन्दर और प्रियदर्शी हो, इतना सुसज्जित और कलापूर्ण हो, जितना आपका हृदय है।”

कंचन ने लालसा का चिबुक उठाया और दृष्टि संगम करके उसके अन्तस्तल में उतरता हुआ बोला—“अवश्य। मैं शीघ्र ही तुम्हारी इच्छा पूर्ण कर दूँगा।” साथ ही अपने कथन के पुष्टीकरण स्वरूप उसने प्रणय की एक मुद्रा फिर से प्रकट कर दी।

लालसा विभोर हो गई।

कंचन ने उठते हुए कहा—“मैं अभी जाता हूँ, और राजकीय निर्माणविभाग के विशेषज्ञों से मिलकर सारी व्यवस्था करा दूँगा। प्रभु की इच्छा होगी, तो छः महीने के भीतर ही तुम्हारे मनोनुकूल भवन बन जाएगा।”

“अरे, ऐसी भी क्या शीघ्रता? मैंने तो सकेतमात्र किया था। कभी अवकाश के सम निश्चिन्तर मनसे वहाँ जाकर मिल लीजिएगा मैं उत्सुक अवश्य हूँ; किन्तु प्रातुर अभीर नहीं। अभी से उसमें ... व्यस्त क्यों हो रहे हैं?”

भवन के ऊपरी भाग में एक छोटा-सा किन्तु भति सुसज्जित करा बना हुआ था। वह लालसा और कंचन का कीड़ागार था। नाम था—'पर्यंक'। अपनी शोभा और सज्जा से वह पूरे भवन का प्राण था। जिस समय नव-दम्पति वहाँ बैठकर मनोरंजन करते, शेष ससार की ओर भूलकर भी उनका ध्यान नहीं जाता था।

उस दिन कंचन को पान का बीड़ा देते हुए लालसा ने कहा—
"आपने मुझे धन, मान और प्रेम सभी कुछ दिया। मेरी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति के लिए सदैव प्रस्तुत रहते हैं। अपने इस सौभाग्य पर मुझे गर्व होता था। किन्तु कल संध्या से एक शंका मुझे भ्रम कर रही है..."

शंका ! किस बात की ? अरे लालसा ! मेरे रहते भी शंका ? कंचन ने एक बारगी सजग हो उठा और लालसा का हाथ पकड़कर पूछने लगा—
"तुमने कल संध्या को ही क्यों नहीं बता दिया था। शाह ! तुम अपने मन में संताप लिए बैठी रही और मुझे पता भी न चलने दिया ?"

संकोचयश, कहने का साहस नहीं हुआ, स्वामी। वह आपका पारिवारिक विषय है।"

"पारिवारिक विषय ! तब तो तुम्हें अवश्य कहना चाहिए था ! क्या तुम मेरे परिवार में नहीं हो ?"

लालसा निरंतर रही।

"बोता ! मैं पूछता हूँ—तुमने संकोच की क्या आवश्यकता की ? कहीं भविष्य का दुमरा रूप तो नहीं है ?"

! वास्तविकता यह है कि जब संकोच के घागमन का समाचार मिला है मैं ही रही हूँ। यद्यपि इन दिनों में माताजी के स्वास्थ्य का व्यवहार नहीं मिला। वे तब-

भवन के गपरी भाग में एक छोटा-सा किन्तु भनि सुसज्जित करा बना हुआ था। यह सानग घोर कंचन का कीड़ागार था। नाम था—'पर्यंक'। अपनी सोभा घोर गज्जा से यह पूरे भवन का प्राण था। जिग समय नय-दम्पति यहाँ बैठकर मनोरंजन करते, शेष गंगार की घोर भूलकर भी उनका ध्यान नहीं जाता था।

उग दिन कंचन को पान का बीड़ा देते हुए लालसा ने कहा—
 "आपने मुझे पन, मान और प्रेम सभी कुछ दिया। मेरी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति के लिए सदब प्रस्तुत रहते हैं। अपने इस सौभाग्य पर मुझे गर्व होना था। किन्तु कल संध्या से एक शंका मुझे प्रघोर कर रही है..."

शंका ! किस बात की ? अरे लालसा ! मेरे रहते भी शंका ?
 किंच न एक बारगी सजग हो उठा और लालसा का हाथ पकड़कर छने लगा—
 "तुमने कल संध्या को ही क्यों नहीं बता दिया था।
 यह ! तुम अपने मन में संताप लिए बैठी रही और मुझे पता भी चलने दिया ?"

संकोचवश, कहने का साहस नहीं हुआ, स्वामी। वह आपका रिचारिक विषय है।"

"पारिवारिक विषय ! तब तो तुम्हें अवश्य कहना चाहिए ! क्या तुम मेरे परिवार में नहीं हो ?"

लालसा निरुत्तर रही।

"बोला ! मैं पूछता हूँ—इतने संकोच की क्या आवश्यकता कहीं यह मेरे प्रति अविश्वास का दूसरा रूप तो नहीं है ?"

"ऐसा न कहें प्रियतम ! वास्तविकता यह है कि कल संध्या से आपके पिताजी के आगमन का समाचार मिला है मैं व्यग्र, भयभीत-सी हो रही हूँ। यद्यपि इतने दिन में माताजी 'र से मुझे कोई बलेद्यजनक व्यवहार नहीं मिला। वे तप-

आशंकानुमार वे स्पष्ट ही हो जाएँ, तो भी मैं निर्विन्द हूँ। यह घर तो क्या, यदि तुम्हारी तुलना में सारे संसार को रखा जाए, तो भी मैं उसे हेय समझूँगा। क्या अभी तक तुम मेरी भावनाओं और आत्म निश्चय से परिचित नहीं हो सकीं।” कहकर कंचन भी लालसा की आँखों में उतरने लगा।

अब दोनों एक दशा में एक ही विषय पर केन्द्रित, एकात्म की भाँति तल्लीन थे। नेत्र, अधर और वक्ष परस्पर वार्तालाप में विमुक्त वातावरण मौन नीरव और निस्तब्ध। मुख पर आत्मसमर्पणजन्य आह्लाद की स्थिति-ज्योति। जिस सलाप में वर्षों का समय व्यर्थ हो चुका, क्षणों में समाप्त हो गया। कंचन ने मुग्ध-मुद्रा में मद-विह्वल नेत्रों से लालसा को संबोधित किया—“प्रिये ! सचमुच, तुम अप्सराओं से भी अधिक सुन्दर हो। ऐसे भुवन मोहन रूप का कहीं वर्णन नहीं मिलता।”

उत्तर में लालसा के ताम्बूल रंजित अधर विकसित हो उठे—
“जैसी भी हूँ, तुम्हारी ही तो !”

कंचन कुछ कहने ही जा रहा था कि द्वार पर लटक रहा नीला झिलमिल धीरे से लहराया और वायु तरंगित हो उठी—
“छनन्-छनन् छन् !”

यह दासी के स्वरो की ध्वनि थी।

संकेत समझकर कंचन ने आज्ञा दी—“आमो।”

आवरण पट सरक गया और मुसज्जित वेद-विन्यास में एक पोडशी ने प्रवेश करके अभिवादन की मुद्रा में कहा—“स्वामी !”

“हाँ, कहो न ! इस असमय में आने का क्या कारण था ?”
कंचन ने प्रश्न किया।

“स्वामी ! मुझे स्वयं मंकोच हो रहा था, पर... !”

“मुनयना !—कंचन ने कुछ चिन्ताग्रस्त होकर पूछा—“अब

राटक उठता था—न जाने पिताजी क्या पूछेंगे ?

प्रणाम के उत्तर में आशीर्वाद देकर राजप्येष्ठि ने गम्भीर स्वर में कंचन से कहा—“भवन-निर्माण में की गई घन-राशि का मुझे कोई खेद नहीं है। यह सारी सम्पत्ति, जो मैं अर्जित कर रहा हूँ, मात्र तुम्हारे ही लिए है ! किन्तु कुछ ऐसी सूचना प्राप्त हुई है, जिससे मैं अपनी वंशानुगत प्रतिष्ठा के प्रति संकित हो उठा हूँ। यदि मेरे सन्देह का निवारण तुम नहीं कर पाते, तो निश्चय ही वह पारिवारिक अशान्ति का कारण बनेगा।”

कंचन ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया—“पिताजी आज्ञादीर्घिए, मैं प्रत्येक सेवा के लिए प्रस्तुत हूँ। आपकी मनोशान्ति और शारीरिक सुख के लिए मैं वे सारे प्रयास करूँगा, जो मनुष्य की सामर्थ्य में होंगे।”

कहने को तो कंचन ने कह दिया, किन्तु अपने शब्दों पर वह स्वयं आश्वस्त नहीं हो सका। इस कथन में सत्य और आडम्बर का अनुपात देखकर वह जैसे अपने-आप से ही लज्जित हो गया। वस्तुतः उसका आत्मबल क्षीण हो चल था। पिताजी की ओर देखने का साहस नहीं हुआ। मन का भाव छिपाने के लिए वह अपनी मंगूठी को इधर-उधर सरकाने लगा।

पिता ने कहा—“पुत्रवधू की आवश्यकता मैं स्वयं अनुभव कर रहा था। वह तुम अपनी रुचि से ले आए और सन्तुष्ट हो, यह देख कर प्रसन्नता हुई। किन्तु उसके वश-कुल आदि का विवरण जानना मेरे लिए आवश्यक है; क्योंकि यह अपना जातीय विषय है। इसकी उपेक्षा का अर्थ होगा—सामाजिक लांछना। और कुछ भी हो; पर मैं अपनी वंश मर्यादा पर आँच नहीं आने दे सकता। आज देश-विदेशों में घर की प्रतिष्ठा देख रहे हो, उसके मूल में यही एक आधार है।”

माह ! कंसा निर्मम प्रहार है ! न जाने किस दुष्ट ने पिताजी की रुद्धिवादिता को उकसा दिया है । इनको धन्य-परम्परा का सम-पान में कैसे करें ? और यदि सत्य कहता हूँ तो ये लालसा को कभी स्वीकार नहीं करेंगे । छनना भी सहायक नहीं हो सकेगी । तब ?

अन्तर्द्वन्द्व का वेग इतना बढ़ गया कि कचन हृत्प्रभ हो उठा । वह निश्चय नहीं कर पा रहा था कि क्या कहे—सत्य घबरा भ्रमसत्य ?

उसे द्विधाप्रस्त देगकर पिता ने फिर पूछा—“तो, तुम्हारे मौन का यही अर्थ है न; कि वधू प्राप्त करने में तुमने अपनी बंश-मर्यादा का ध्यान नहीं रखा ? इसे कहीं से लाए थे, इसके पारिवारिक जन बर्ही है, उनका व्यवसाय क्या है, यह सारा विवरण बताओ ।”

“पिताजी ! आपकी आज्ञानुसार मैं”—माहस सँजोकर कंचन ने अपने को निरद्वैत बनाते हुए उत्तर दिया—“चिदम्बरम् के विष्णु मन्दिर में पञ्च-गुण अर्पित करने गया था । वही के एक संभ्रान्त मन्त्रज्ञ की यह कन्या है । वार्तालाप के मध्य वे मुझमें इतने प्रभाव हुए कि चलने समय, इने मुझको अर्पित कर दिया । हमारा स्वयं और परिणय सब विष्णु मन्दिर के प्राण में ही हुआ था ।”

“बड़ा हम सम्बन्ध में तुमने वधू से अभिभावक को कुछ धन ो दिया था ?”

“हाँ, मैंने उन्हें कुछ मुद्राओं दी थी; विन्तु विष्णुद दान की भावना में । अर्घ्य गवट के बारण के अपनी किसी पारिवारिक समस्या में बुरी तरह उनमें हुए थे ।” कचन ने सत्य पर धावरण डाला ।

“यों कचन ! तुम अपने पिता को भी अर्पित करना चाहते हो ?”

“नहीं पिताजी, मैं ऐसा नीच और शुद्ध-बुद्धि नहीं हूँ कि आपके

प्रति ऐसी कुकल्याण भी कर मकूँ। मैंने जो कुछ कहा है, उसका एक-एक शब्द सत्य है। आप किसी प्रकार का सन्देह न करें।

“हा-हा-हा-हा !”—पिता का स्वर अत्यन्त विचित्र था—“कितने चातुर्य से तुम अपना दोष छिपा रहे हो ! कंचन, मैं कहता हूँ—बुद्धिमत्ता का दंभ छोड़ दो। तुम्हारा नैतिक पतन हो चुका है। और जानते हो—जिसका नैतिक पतन हो जाता है, उसके मन-मस्तिष्क में तनिक भी शक्ति नहीं रह जाती। तुम्हारे कृत्य में भली-भाँति जान गया हूँ।”

“कृत्य ? आप यह क्या कह रहे हैं पिताजी !”

“मैं कह रहा हूँ—सिंहल से लौटते समय मैं चिदम्बरम् में ठहरा था। तुम्हारे पतन की कहानी घर-घर में प्रसिद्ध है। पुष्प पुष्प प्रमाण मिले हैं। कि तुमने सोमदत्ता नामक किन्नी याचकी पत्नी,—वह भी कदाचित् विवाहिता नहीं, अपहृत है—को दो सहस्र स्वर्ण मुद्राओं में क्रय किया है। आज जिसे तुम अपनी पत्नी के रूप में साथ रखकर गर्व कर रहे हो, वह वस्तुतः किन्नी नर्तकी की सन्तान है। और नर्तकी की सन्तान का ज़ारज होना कदा संभावित है तब, ऐसे पात्र को लाकर तुमने मेरी वंश-प्रतिष्ठा पर क्या प्रभाव डाला है, सोचो !”

कंचन भलिन हो गया। उसकी मुख कांति इस प्रकार नष्ट हो गई जैसे दिवस का दीपक हो। भय और चिन्ता के कारण मुद्रा विकृत हो गई। मुँह सूखने लगा। चिह्ना तालु प्रदेश से चिपक गई। शणु-भर के लिए वह मूढवत् खड़ा रह गया। पिता के कथन का प्रतिवाद करने के लिए उसे शब्द ही नहीं मिल सके। अपराधी भाव से वह मौन खड़ा घरती की ओर अपलक दृष्टि से देखता रहा।

पिता ने फिर कहा—“मेरी संका का समाधान करने के लिए मेरे कथन की असंगति का विरोध करने के लिए, बोलो, तुम का

कहना चाहते हो ? अपने पक्ष में तुम्हारे पास कोई तर्क हो, तो प्रस्तुत करो ।”

कचन जितना सहज विश्वासी था, उतना ही सहसा प्रवर्ती भी । लालसा के आगे उसे सारा ससार तुच्छ दीख पड़ रहा था । पिता के स्वभाव से परिचित था । समझ गया कि घर पारिवारिक व्यवस्था में कोई दुर्घटना होकर ही रहेगी । कण्ठस्वर को सायास स्पष्ट और सशक्त करके उसने कहा—“पिनाजी ! आपका विरोध करने का पाप मैं नहीं लूँगा । जो भी कहेंगे सब स्वीकार करूँगा । सचमुच, लालसा नर्तकी पुत्री जाग्रज मतान और गायक पत्नी है, और मैंने उसे नय दिया है । किन्तु अब वह मेरी महर्घमिणी है । हम दोनों वैदिक रीति से पति-पत्नी हो चुके हैं । जीवन-भर अपने-हम सम्बन्ध का निर्वाह करने को दंड प्रतिज्ञा है ।”

पिना ने अनुभव किया—कचन का स्वर उठन हो उठा है, और व्यवहार में असयम-जनित घनादर का भाव भनक आया है । उसने क्षुब्ध होकर कहा—“मेरी मान मर्यादा और पारिवारिक सैनिकता के लिए तुम्हें इस मोड़ का त्याग करना पड़ेगा ।”

कचन का स्वर कुछ अधिक कठोर हो गया—“पिनाजी ! इतनी दूर तक चलकर मैं अब लौट नहीं सकता । लालसा मेरी पत्नी है । उसका परिन्याय करना मेरे लिए सम्भव नहीं रहा ।”

“बूढ़ अपनी मान मर्यादा का भी ध्यान भी है न ?”

“सब है, किन्तु मैं लालसा को किसी भी मूल्य पर त्याग नहीं सकता ।” कचन ने पूरी दृढ़ता के साथ अपना भाव प्रकट कर दिया ।

“अच्छा ! एंगा दंड निश्चय ? मैं कहता हूँ—फिर मैं मोच लो ।”

“बार-बार क्या सोचना पिनाजी ! मैं विवश हूँ अपनी भावुकता से, सहृदयता से और प्रतिज्ञा से ।”

“और पायरता से भी !”

“कायर ! पिताजी ! मुझे कायर न कहिए ।” कंचन ने स्वयं
विद्रोह किया ।

“क्यों ?” अब पिता की भी आँखों का आयतन बढ़ा ।

“लालसा के लिए समस्त संसार की उपेक्षा करके भी क्या मैं
कायर हूँ ?”

“अवश्य ! तुम एक नर्तकी के रूप से परास्त हो गए । तुम्हारी
आत्मा का इतना दयनीय पतन हुआ कि लोग सुनना भी नहीं
चाहेंगे । तुमने स्वेच्छा के बसीभूत होकर पुरजन-परिजन अबवा
गुरुजन किसी का भी सम्मान नहीं किया । क्यों ? इसीलिए न, कि
उनकी आज्ञा, उनका उपदेश स्वीकार करने के लिए तुम्हारे पास
आत्मबल नहीं था । तुम्हें कायर न कहूँ तो क्या कहूँ ?”

“यह मेरी निष्ठा और प्रणय की गम्भीरता का चोटक है
पिताजी ।”

“क्यों रे असम्य ! तू मुझे निष्ठा का पाठ पढ़ाने चला है ?
जिसको तू निष्ठा कहता है, मैं कहता हूँ—वह तेरी कामुकता का,
तेरी पलायनवादी मनोवृत्ति का सूचक है । गम्भीरता का दंभ करते
हुए भी, तू सम्मता और शिष्टाचार का, प्रतिष्ठा और परम्परा का
निर्वाह नहीं कर सका । तेरे साहस को, तेरी दृढ़ता को धिक्कार
है ।”

“पिताजी ! आप व्यर्थ ही क्रुद्ध हो रहे हैं—उत्तेजित स्वर को
कुछ नत्र करके कंचन बोला—“मैं सर्वथा निर्दोष हूँ ।”

“नहीं, तू सर्वथा सदोष है । तेरा अपराध असम्य है । तुम्हें
दंडित किये बिना, मैं धन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा ।” इस बार
राजश्रेष्ठ का स्वर क्रोधावेग के कारण कांप रहा था । उसकी दृष्टि
उत्तापमयी हो उठी थी और आँखों में आँसू थे ।

"आप दण्ड-व्यवस्था दें; मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा। विश्वाम कीजिए पिताजी, मैं न आपको धवसाद ग्रस्त करूँगा, न स्वयं को। लालसा को साथ रखकर, मैं बड़े से बड़ा दंड लेने को प्रस्तुत हूँ।"

"यह निर्लज्जता ! ऐमा दुम्साहम ! जा, इसी क्षण अपनी उस नर्तकी प्रेयसी को लेकर काशी राज्य की सीमा के बाहर चला जा। तेरे जैसे चरित्र भ्रष्ट, पतित और कुलांगार से घनाग्नि के प्रतिरिक्त और क्या मिलेगा ? तूझ जैसे नीच प्रवृत्ति का पिता कहलाना मुझे सह्य नहीं है। तूने पीड़ियों से चली आ रही श्रेष्ठिवंश की कीर्ति को बालिमालिप्त कर दिया है। निकल जा इसी समय ! अपने अप-वित्र अस्तित्व से इस भवन का वातावरण दूषित न कर। मैं समझ लूँगा, तूने जन्म ही नहीं लिया था। कुमनान ने निम्नस्तान रहना ध्येयस्वर है।"

"जैसी आपकी आज्ञा !"—कचन ने हाथ जोड़कर कहा—"मैं रुद्धिवादी नहीं हूँ। मेरे लिए समस्त मानव जाति एक है। वर्ण-व्यवस्था हमारी आपकी शोषक प्रवृत्ति और दोहन नीति का सजीव उदाहरण है। मैं प्रसन्नता से इसका परित्याग करता हूँ।" कहते हुए कचन ने पिता की चरण रज ली और बाण बेग से निकल गया।

क्रोध और शोक से अभिभूत-सा बंटा राजधेष्टि अपलक दृष्टि में द्वार की ओर देखता रहा।

कचन ने उसी समय 'पर्यंक' पहुँचकर लालसा को सारा विवरण बता दिया। उसने कोई विरोध नहीं किया। कचन की आज्ञानुसार गृहत्याग करने के लिए प्रस्तुत हो गई। राजधेष्टि की उपस्थिति न जाने क्यों उसे बन्धन जैसी प्रतीत हो रही थी। निष्प्रामन उसे श्रिय लगा; क्योंकि यह स्वच्छन्दता का संदेश था। साथ में

उसने अपनी प्रसाधन पेटिका और बीणा ली, बस । कंचन ने कुछ रत्न और मुद्रायें, जो उसकी स्वमाजित सम्पत्ति थी, लीं और देहली को प्रणाम करके सहर्ष बाहर खड़ा हो गया ।

जिसने गुना, चकित रह गया । किन्तु वह भादशं प्रणयी, बिना किसी प्रकार का संकल्प-विकल्प किये, पिता का इन्द्रासन त्याग-कर सहर्ष मन से वन की ओर प्रस्थित हो गया । साथ में कुछ नहीं । न दास-दासी, न वाहन । आगे-आगे कंचन और पीछे-पीछे लालसा, पाँव-पयादे अपने अनिश्चित गतन्व्य की ओर चल पड़े ।

उस दिन सारे नगर की चर्चा का विषय रहा—कंचन का निर्वासन ।



काशी से प्रस्थान करने समय कचन के सामने धपना कोई निश्चय तय धपवा मतव्ये नहीं था। वह लालसा को साथ लिए हुए घर से निकल कर उपनिदिष्ट पथ की ओर चल पड़ा था। किन्तु नैमिसारण्य पहुँचकर उसका विचार बदल गया और वह सोचने लगा—इस प्रकार भटकना तो उचित नहीं है। मुझे कही स्थायी रूप से रहकर जीवन को स्वावलम्बी और सम्पन्न बनाना होगा। यह याथावर कृति न तो शारीरिक मुख दे सकती है, न मानसिक शान्ति।

उसी संध्या को उसने साधमा से कहा—“लालसा ! कही स्थायी रूप से रहने का विचार है, या इसी प्रकार भ्रमण करोगी ?”

“जैसी आपकी इच्छा होगी।”

“किन्तु यह क्यों भूली जा रही हो कि मैं तुम्हारी इच्छाओं का दास हूँ।”

लालसा का मन सर्वांग तो नहीं, किन्तु सोमदत्त की अपेक्षा कचन के प्रति अधिक अनुरक्त था। कारण कि कचन रूप, वय, धन और स्वभाव सब में सोमदत्त से सम्पन्न था। अभाव था, तो एक—कचन को समीप में रचि होने हुए भी दक्षता प्राप्त नहीं थी। फिर भी, लालसा का प्रेम उसके प्रति था और जितने घागे उसके पास बैठती, परम सन्तुष्ट रहती थी। कचन का उत्तर

सुनकर उसने एक तृप्तिमयी मुस्कान से कहा—“मेरी इच्छाओं के केन्द्र भी तो आप ही है !”

“तो बताओ, भविष्य के लिए क्या विचार है ?” कंचन मूल प्रश्न पर आया । वह चाहता था, भावी जीवन की एक रूपरेखा निश्चित कर लूँ और उसी के अनुसार अपनी दैनिक चर्या बनाऊँ ।

स्थापित्व का महत्त्व लालसा को भी ज्ञात था । उसने कहा—
“किसी एक स्थान पर निवास करने से जीवन संतुलित रहता है । इस प्रकार इधर-उधर भटकने से कभी-कभी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है ।”

मैंने भी यही सोचा है । इसीलिए तुमसे पूछ रहा हूँ । जहाँ कहो, चलकर रहने की व्यवस्था करूँ । अभी अपने पास पर्याप्त धन है । भारत के किसी भी नगर में अपना निजी भवन और उद्यान बनवाने की क्षमता रखता हूँ । तुम अपनी रुचि बताओ, वहीं चलूँगा ।”

लालसा ने कुछ कहना चाहा ; पर न जाने क्यों कह नहीं सकी, केवल मुस्कराकर रह गई ।

उसके संकोच और कुछ कहने की इच्छा का आभास कंचन को मिल गया । उसने लालसा की दाहिनी तर्जनी पकड़ ली और हथेली पर गुदगुदाते हुए बोला—“शुप क्यों हो गई ? पूरी बात कहो न ? क्या अब भी हम तुम एक नहीं हो सके ?”

लालसा ने डाँठ के मुँह पर हाथ रख दिया—“ऐसा न कहें स्वामी ! आपने मेरे लिए जितना बड़ा त्याग किया है, वह सात जन्मों तक नहीं भुलाया जा सकता ।”

“तो फिर बताओ, कहाँ अपनी कुटी बनाने का विचार है ?”

“काश्मीर चलिए ।”

“काश्मीर ?”

“हाँ, वह घरती का स्वर्ण है और मेरा स्वर्ण-स्वप्न । दो बार हो चाई हूँ—एक बार माताजी के साथ बचपन में, दुबारा माचार्यजी के साथ ।”

“गया तो मैं भी हूँ और सचमुच, है बड़ा रमणीक प्रदेश । वातावरण इतना मोहक है कि वहाँ से लौटने की इच्छा नहीं होती ।”

“काश्मीर को भारत भूमि का मुकुट माना जाता है ।”

“यह यथार्थ भी है ।”

“सौन्दर्य-श्री वहाँ प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है ।”

“निवासी भी बड़े सुन्दर और प्रियदर्शी होते हैं ।”

“महाराज दशरथ की रानी कैकेयी का जन्म वहीं हुआ था । वंश-प्रदेश आज का काश्मीर ही तो था ! उसी श्री सम्पन्न भूमि की राजकुमारी होने के कारण रानी कैकेयी को इतना मोहक रूप प्राप्त हुआ था, जिसके वशीभूत होकर राजा दशरथ को अपनी शेष दो रानियों तथा चार पुत्रों का परित्याग करना पड़ा ।”

“तो, क्या इच्छा है ?”

“वहीं चलकर स्थायी रूप से रहूँ ।”

“अवश्य चलूँगा लालसा ! तुम्हारे लिए जब मैंने गृह त्याग कर दिया, तो काश्मीर की नहीं, चन्द्रलोक तक की यात्रा कर लूँगा । जाननी हो—प्रेम की शक्ति अदम्य होती है ।” कहकर बचन में उसे बाहुपास में आबद्ध कर लिया ।

दूगरे दिन दोनों प्रणयी नैमिसारण्य क्षेत्र छोड़कर काश्मीर के पथ पर अग्रसर हो गए ।

बचन भावुक व्यक्ति था । पिता के निर्णय पर आशोचनना उगने गृह-त्याग करने समय, कोई विरह सम्पत्ति नहीं ली थी । यात्रा के लिए सामान्यता सभी व्यक्ति कुछ-न-कुछ पायेय और

मार्ग व्यय की व्यवस्था करते हैं; पर कंचन ने वह कुछ भी नहीं किया। जिस स्थिति में था वैसे ही चल पड़ा था। सम्पत्ति—उसके पास केवल कुछ रत्न और आभूषण थे, बस।

काशी से अयोध्या तक तो किसी प्रकार निर्वाह हो गया; किन्तु आगे के लिए कोई साधन न था। तब कंचन ने अपनी मुद्रिकायें और हार बेचकर कुछ द्रव्य प्राप्त किया और उत्तार की ओर प्रस्थित हुआ। नैमिसारण्य में काश्मीर निवास का निश्चय कर चुकने पर उसने सोचा—विदेश और प्रवास के लिए पर्याप्त धन होना चाहिए, नहीं तो समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। एक दिन राह में उसने लालसा से भी अपना विचार प्रकट कर दिया—

“लालसा ! सम्पन्न जीवन व्यतीत करने के अम्भस्त होते हुए भी हम दोनों अपने साथ कोई वैभव अथवा सम्पदा लेकर नहीं चले हैं। सोचता हूँ—काश्मीर में निर्वाह के लिए कौन-सा मार्ग ग्रहण करना पड़ेगा। मान प्रतिष्ठा भी अक्षुण्ण रहे, और हम दोनों सुखी जीवन व्यतीत कर सकें, इसके साधन भी खोजने पड़ेंगे।”

“यदि आप मेरी संगीत कला का लाभ उठाना चाहें, तो मैं प्रतिक्षण सेवा के लिए प्रस्तुत रहूँगी।”

“तो क्या मैं भी सोमदत्त बन जाऊँ ? तुम्हारा प्रदर्शन करके यदि उसे मैंने अपनी जीविका का आधार बनाया, तो मेरी आत्मा स्वयं को धिक्कारेगी। और विश्वास करो लालसा ! मैं आत्मा का धिक्कार सहने का अम्यासी नहीं हूँ।”

“मैंने सहज भाव से कहा था स्वामी”—लालसा ने उसे विचलित होते देखकर हाथ पकड़ लिया—“यह मेरा नहीं, मेरी कला का प्रदर्शन होगा। कला प्रदर्शन तो गौरवपूर्ण माना जाता है ! आप सिन्न क्यों हो रहे हैं ? यदि संगीत-साधना को आप त्याग्य समझते हैं, तो मेरे आभूषणों का प्रयोग कीजिए। उन्हें बेचकर आप

को पर्याप्त धन मिल जाएगा ।”

“धामूपण !” कंचन ने चकित होकर जैसे स्तब्ध से बहा ।

“हाँ, बागी से चलने समय मैं अपनी प्रमाणन पेटिया माथ लेनी पाई हूँ; क्योंकि सोन्दर्य-रक्षा के प्रति सजग रहना मेरा मिथ्यान्त है । स्त्री के पास दो ही साधन तो हैं अपना अस्तित्व ब्याप्री रखने के लिए—रूप और गुण, रूप को मैं प्रधानता देनी हूँ क्योंकि यह प्राणि माय के आवर्णन का केन्द्र बिन्दु है । मेरी पेटिया में कुछ धामूपण है । उन्हें बेचकर आप अर्थ सबट से मुक्त हो सकते हैं ।”

“क्या वह रही हो लालसा ! तुम्हारे धामूपण बेचकर मैं जीविका चलाऊँ ? कभी नहीं ? यह तो मेरी निष्प्रियता होगी । मेरे पौरव का, मेरे अहम का उपहास होगा । मैं इतना स्त्रैण नहीं हो सकता । किसी प्रकार कादमीर पहुँच जाऊँ, बस । फिर तो कुछ न कुछ साधन मिल ही जाएँगे ।”

“तो भी—लालसा ने साग्रह बहा—“कादमीर पहुँचने में कुछ न कुछ विलम्ब अवश्य लगेगा । कम से कम तब तक के लिए तो कोई व्यवस्था हो ही जानी चाहिए । आप मेरा हार बेच डालिए ।”

कंचन गम्भीर होकर सोचने लगा, कुछ बोला नहीं ।

“किसी प्रकार का खेद अववा पदचात्ताप न करे । ईश्वर की कृपा होगी, तो धामूपण फिर बन जाएँगे । इस समय जो समस्या हो, उसका समाधान कीजिए । हार निकालूँ ?”

थोड़ी देर मनोमयन से छुट्टी पाकर कंचन ने एक लम्बी साँस छोड़ी और बहा—“अभी रहने दो, यहाँ कोई वैसा धनाढ्य भी नहीं है । आप किसी नगर में देखा जाएगा ।”

लालसा सगुप्त हो गई । विषय परिवर्तन हो गया और दोनों हास-विलास की चर्चा करने लगे ।

गङ्गुबनेश्वर का राजा कंचन की पहचानता था । कंचन ने बहा

हुँचकर दो आभूषण उसे भट कर दिए। राजा रत्नों का पारखी था और उदार भी। कंचन की निर्वासन-कथा सुनकर उसने अलंकारों के मूल्य स्वरूप दस सहस्रमुद्रायें और पाँच सेवक देकर उसे आश्वस्त किया—“यदि काश्मीर में रहते हुए कभी कोई प्रश्न उठे, तो निस्संकोच सूचना भेजकर यहाँ से सहायता माँग लेना। यों, रहना चाहो तो मैं तुम्हारे लिए यही व्यवस्था कर दूँ।”

लेकिन कंचन गङ्गमुक्तेश्वर में ठहरा नहीं; वह राजा की कृपा के प्रति अतिशय कृतज्ञ होकर भी, काश्मीर के लिए चलता रहा। वस्तुतः वह स्वयं भी लालसा की भाँति वहाँ का निवासी होने के लिए लालायित था।

गङ्गमुक्तेश्वर से प्रस्थान करने के पश्चात् घटनाक्रम से कंचन के विचारों में परिवर्तन हो गया। वह प्रशंसाभिलाषी व्यक्ति था। राह में जहाँ भी ठहरता, लालसा के प्रशंसकों की भीड़ तय जाती थी। उसके साथ लोग कंचन की भी सराहना करने लगते थे—“बड़ा भाग्यशाली युवक है यह; तभी तो ऐसी रूपसी का पति हो सका है! इतनी सुन्दर और सुकुमार युवती कहानियों के प्रतिरिक्त और कहाँ मिल सकेगी?”

तब, लालसा की इच्छा जानकर कंचन ने अपनी प्रशंसा को द्विगुणित करने के लिए सगीत का माध्यम अपनाने का निर्णय किया। सोचा—अनुचित क्या है? लालसा मेरी पत्नी है, मेरे साथ तो रहेगी! गीत और नृत्य का प्रदर्शन तो देवांगनाएँ तक करती हैं! अभी केवल इसका रूप प्रदर्शित हो रहा है; तब तो रूप और गुण दोनों की सराहना होगी। मैं स्वयं भी थोड़ा-बहुत अभ्यास कर लूँ, तो संतुलन बन जाएगा। बंभय-विलास और प्रतिष्ठा सब गुणभरेंगे। पहले सोमदत्त भी तो यही करता था।

और सोमदत्त का स्मरण होने ही चिदम्बरम् के विष्णुमन्दिर

का दृश्य उसकी आँखों में घूम गया ।

प्रायःवर्त में भीर काश्मीर की सीमा पर रटपुर नामक एक छोटा-सा किन्तु सम्य सम्पन्न नगर था । कंचन ने वही पहुँचकर अपनी आवश्यकता की कई वस्तुयें ली—वाद्ययंत्र, सेवक, रथ, घोड़े, वस्त्र और अन्य प्रयोजनीय उपकरण; फिर अपने रहन-सहन में ग्रामूल परिवर्तन करके, सोमदत्ता के से वातावरण में काश्मीर की भीर चला । अब उसके आत्मबल और तेज में वृद्धि हो गई थी । मन उत्साह से पूर्ण था । न कोई खेद, न चिन्ता । उर्वशी और मेनका को लज्जित करने वाली लालसा जैसी रमणी भीर इन्द्रसभा को हृदय करने वाले अपने नृत्य वर्ग के साथ, वह जिस मार्ग से निकलता, जड़-चेतन सब चकित रह जाते थे । नर-नारी उनकी प्रशंसा करते करने नहीं थे, वन्यपशु अपना विचरण भूलकर उन्हें एकटक देखने लगते थे, और पृथ उनके सम्मान में ढालें झुका देते थे, मानो हाथ हिला-हिलाकर स्वागत के लिए बुला रहे हों ।

रटपुर से घागें का मार्ग कंचन के लिए बहुत ही सम्मानप्रद रहा । जहाँ भी पहुँचता, सुविधाएँ साकार रूप में उस के लिए प्रस्तुत रहती थी । गालमा का रूप और संगीत, चतुर्दिक उसकी स्थाति का बिम्बित कर रहा था । नृत्यकर्म की उत्पत्ति, साधनों की उपलब्धि और मनोनुकूल वातावरण ने कंचन का सारा अवगाद मिटा दिया । अब वह निश्चिन्त हो गया—वनवास की अवधि समाप्त हो चुकी, अब मैं राजभोग का अधिकारी हूँ ।

पारिवारिक रीतिरिवाज के ठीक दो वर्ष पश्चात् कंचन काश्मीर की राजधानी श्रीनगर पहुँचा । यही उसका मनोनीत स्थल था, यही उसका गन्तव्य । साधन-सम्पन्न था ही, तुरन्त एक अन्य भवन से लिया और उसी में दलबल सहित निवास करने लगा । निपमित्र रूप से भोजन, भजन, विधाम-विलास, और संगीत-साधना उसकी

दिनचर्या के अंग बन गए। मृत्यु-वर्ग सेवारत था। वैभव-विहार की इस चरम सीमा पर पहुँचकर कंचन ने सोचा—स्वर्ग का सुख यही तो है !

एक दिन वाटिका में टहलते हुए, उसने लालसा से पूछा—

“यह नगर कैसा लगा तुम्हे ?”

प्रसन्नता से लालसा ने उत्तर दिया—“यथानाम तथा रूप है। जैसी ख्याति सुनी थी, वही प्रत्यक्ष हुई।”

“विश्वास है, यहाँ रहकर तुम काशी-त्याग के अवसाद से मुक्त हो जाओगी।”

“क्या काशी, क्या कौशल, और क्या काश्मीर; मैं आपके साथ रहकर कहीं भी अवसाद ग्रस्त न हो सकूँगी। चिन्ता और शोक प्राणी के भयकर शत्रु है; किन्तु ये एकान्त में ही आक्रमण करते हैं। व्यस्ति अथवा जन संकल वातावरण में इनका प्रभाव कम होता है। आपके साथ मुझे मरोरजन के इतने साधन सुलभ हैं कि प्रयास करने पर भी एकान्त नहीं पा सकती। ऐसी दशा में अवसाद मुझे कैसे आक्रान्त कर सकेगा ?”

“मैंने सोचा था—सम्भव है; भौतिक सुख-साधनों का प्रभाव तुम्हें कष्टप्रद प्रतीत हो।”

“कदापि नहीं प्रियतम ! इतना अविश्वास मुझ पर न करें। फिर भौतिक सुख-साधन भी तो प्रस्तुत हैं ! किस कुभाव से मैं प्रपना मन सिन्न करूँगी ? आप निश्चिन्त रहें; मैं आपके साथ पूर्ण रूप से सुखी हूँ।”

“आह ! अब क्या बताऊँ लालसा ? तुम्हारी यही गहिष्णुता, ही सनोली मनोवृत्ति तो मुझे कथित कर देती है। मैं अपने को, तुम्हारे सामने अपराधी और पराजित जैसा अनुभव करता हूँ। तुम्हारा आत्म-अंश, मेरे दंभ को धिक्कार देना है। किन्तु विश्वास

करो, मैं निष्क्रिय नहीं हूँ। साप की अवधि अब समाप्त समझो। मैं घाने प्रदेश का विख्यात रत्न परीक्षक हूँ जिस दिन काश्मीर प्रदेश में भेंट करूँगा, वे मुझे राजसभा में स्वायी रूप से स्थान दे देंगे। और तुम्हारी कला पर जो पुरस्कार मिलेगा, वह प्रतिस्वित रूपनता होगी।”

“देखिये अब नटवर गिरधारी की कृपा होती है।” कहकर मानसा ने एम्भ थड़ा भाव में धीर्घ मूँदकर आकाश की ओर हाथ जोड़ दिये।

“इसमें विलम्ब नहीं है मानसा। उन लीलामय की व्यवस्था बड़ी विविध होती है। राणधर में ही मसार का उदय-प्रसन्न कर गयो है। उनका गवेष होने हो तुम्हारे पास अपना विद्यालय भवन होगा, मैं वही दास-दासी और वाहन उपलब्ध रहेंगे, भौतिक सुखों का आभार तुम्हारी लुप्ति की प्रतीक्षा करेगा, और इसे भ्रूव निमिषन समझो—इन्द्रलोक का अग्निम्ब यदि कही है—तो उसका वैभव तुम्हारा चरण-चुम्बन करेगा।”

“अरे, यह बात माधुरी। आप तो बर्बि नहीं थे।” कहकर मानसा निर्यातित हो उठी।

“क्या ? बर्बि का यही क्या प्रयोजन ?” लाल में उठे जा रहे कालन की टोकन ऊँची लगी।

“लेगा। समभव भविष्य, आपकी बंते दृष्टिगोचर हो रहा है ? यह तो वैचल्य बर्बि-कल्पना में ही आपका अग्निम्ब गणना है, प्रत्यक्ष जगत् में इसकी सम्भावना कही है ?”

“बर्बि-कल्पना नहीं, तुम्हारे प्रति यह मेरी कामना है।”

“आजगो की भीति लेगा माँगोगान आपकी शोभा नहीं देना।”

“आजगव ही नहीं। पर वह मेरा अधिकार तो है ही। हमने क्यों बर्बिषन कर रही हो ?”

पुलकित होकर लालसा ने कंचन
 कंचन की चिर तृष्णा उद्दाम हो
 अपने भुजपाश में बाँध लिया और स
 पुष्प तोड़कर, उसके कपोलों पर फेरते
 वाटिका में अधिक देर तक न रहा
 को देखकर यहाँ के पुष्प भी लज्जित हो
 कली, विकसित होने के पूर्व ही कुम्हला म
 सम्मुख, इसने अपने अस्तित्व को नगण्य सम
 उत्तर में लालसा का और प्रत्युत्तर
 इस दृढ़तर हो गया ।

कर सिंह के पास पहुँचे। देखा—सिंह अचेत पड़ा है और मुनि-
वाला शान्त-निर्मल भाव से लड़ी उमकी ओर देख रही है। उसके
मुख पर न कोई चिन्ता है, न उद्वेग ? जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

श्रद्धावनत होकर महाराज ने प्रणाम करते हुए उससे पूछा—
“देवि ! आपका स्थान कहाँ है ? आज्ञा दीजिए, साथ चलकर
पहुँचा दूँ। यद्यपि, तपोबल द्वारा आप अपनी रक्षा में समर्थ हैं;
किन्तु मैं भी आपकी सेवा के लिए इच्छुक हो उठा हूँ। एक क्षण
का अवसर पाकर भी, समझूँगा कि जीवन सार्थक हो गया।”

“भद्र ! आप कष्ट न करें। कुटो समीप ही है। पिताजी की
आज्ञानुसार-पूजा के लिए पुष्प चयन करने यहाँ आई थी; किन्तु
इस दुष्ट ने उसमें विघ्न उपस्थिति करना चाहा था। अब दण्डित
होकर कभी किसी तपस्वी की अवज्ञा का साहस नहीं कर सकेगा
आप निश्चिन्त रहें, मैं चली जाऊँगी।”

उस कानन वाला की तेजस्विता मनोबल और निष्कलुष मु-
को देखकर महाराज और भी विनत हो उठे—“यदि आपको की
आपत्ति न हो तो आश्रम चलकर मैं भी ऋषिवर के दर्शन क-
लूँ।”

मुनिवाला ने सहज स्वर में उत्तर दिया—“आपत्ति की तो
कल्पना ही व्यर्थ है। पिताजी के पास दूर-दूर के विद्वान आया कर-
ते हैं। इस समय भी मगध के राज-पुरोहित विष्णु शर्मा हमारे प्रति-
ति हैं। वे संभवतः पिताजी से ब्रह्मविद्या की दीक्षा लेंगे।”

अहोभाग्य—महाराज ने पुलकित होकर कहा—“कि ऐसे
मनीषी विद्वानों के दर्शन सहज सुलभ हो जाएँगे !”

“तो फिर चलिए !”

“किन्तु एक जिज्ञासा है—इस सिंह का क्या होगा ? क्या श-
... चुका है ?”

करें; प्रभु की कृपा से सब अच्छा ही होगा। राजबैद्य को फिर से बुलाकर महाराज की नाड़ी परीक्षा करा लीजिए। समारोह के प्रबन्धक को राजकोष से गतवर्ष की भौति धन दिला दीजिए; वह भतिधियों को ससम्मान विदा कर देंगे। महाराज की धनुषस्थिति के लिए आप स्वयं क्षमा याचना कर लें। मैं मन्दिर में रहूँगा; आप राजबैद्य का कथन मुझ से बताएँगे, कि उन्होंने क्या व्यवस्था दी ? मैं संघ्या समय घारती का प्रसाद लेकर महाराज के पास जाऊँगा।”

रत्नदत्त ने आदरपूर्वक मिर झुका लिया।

आचार्य कीनिक पादुकाओं की छवि गूँजारते हुए, गम्भीर मन से चले गए।

रत्नदत्त ने आचार्य के निर्देशानुसार मारी व्यवस्था की। वैद्य जी को महाराज के पास भेजकर कोषाधिकारी से प्रबन्धक को धन दिलाया और सारे भतिधियों को ससम्मान विदा किया। प्रबन्ध में कोई त्रुटि नहीं होने पाई। सब कुछ यथोचित रूप में होता रहा। प्रभाव था, तो एक—उस दिन किसी को महाराज के दर्शन नहीं हुए।

सायंकाल रत्नदत्त, वैद्य जी को लेकर मन्दिर में पहुँचे। आचार्य कीनिक कोई धर्म ग्रन्थ देख रहे थे। वार्तालाप के समय वैद्यवर ने बताया—

“महाराज की शारीरिक क्षीयता का एकमात्र कारण उनकी मनोस्थिति है। किसी आकस्मिक घटना अथवा कल्पनाहीन उद्देग से उनका हृदय बिनाजन्म रूप में प्रभावित हो गया है। यद्यपि प्रहार अश्रमश है; तथापि महाराज की सहनशक्ति से अधिक है।”

“आपने कोई उपचार किया या ?” आचार्य ने पूछा।

“हाँ, निद्रादायक तत्वों से बनी सर्पंगपावटी सेवन कराई है। उरुसे मानसिक उद्देग कुछ शान्त हो जायगा। किन्तु वह उद्देग

गर गिर के पाग पहुँचे। देखा—मिह अचेत पड़ा है और मुनि-
थाना शान्त-निर्मल भाव से खड़ी उसकी ओर देख रही है। उसके
मुख पर न कोई चिन्ता है, न उद्वेग ? जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

श्रद्धायन्त होकर महाराज ने प्रणाम करते हुए उससे पूछा—
“देवि ! आपका स्थान कहाँ है ? आज्ञा दीजिए, साथ चल
पहुँचा दूँ। यद्यपि, तपोबल द्वारा आप अपनी रक्षा में समर्थ हैं,
किन्तु मैं भी आपकी सेवा के लिए इच्छुक हो उठा हूँ। एक क्ष
का अवसर पाकर भी, समझूँगा कि जीवन सार्थक हो गया।”

“भद्र ! आप कष्ट न करें। कुटी समीप ही है। पिताजी की
आज्ञानुसार-पूजा के लिए पुष्प चयन करने यहाँ आई थी; किन्तु
इस दुष्ट ने उसमें विघ्न उपस्थिति करना चाहा था। अब दण्डित
होकर कभी किसी तपस्वी की अवज्ञा का साहस नहीं कर सकेंगे।
आप निश्चिन्त रहें, मैं चली जाऊँगी।”

उस कानन वाला की तेजस्विता मनोबल और निष्कलुष मुग
को देखकर महाराज और भी विनत हो उठे—“यदि आपको कोई
आपत्ति न हो तो आश्रम चलकर मैं भी ऋषिवर के दर्शन का
लूँ।”

मुनिवाला ने सहज स्वर में उत्तर दिया—“आपत्ति की तो
कल्पना ही व्यर्थ है। पिताजी के पास दूर-दूर के विद्वान आया क
हैं। इस समय भी मगध के राज-पुरोहित विष्णु शर्मा हमारे प्रति
हैं। वे संभवतः पिताजी से ब्रह्मविद्या की दीक्षा लेंगे।”

अहोभाग्य—महाराज ने पुलकित होकर कहा—“कि ऐ
मनीषी विद्वानों के दर्शन सहज सुलभ हो जाएंगे !”

“तो फिर चलिए !”

“किन्तु एक जिज्ञासा है—क्या फिर — — —

करें; प्रभु की कृपा से सब अच्छा ही होगा। राजवंश को फिर से
 बूलाकर महाराज की नाडी परीक्षा करा लीजिए। समारोह के प्रबं-
 धक को राजकोष से गतवर्ष की भूति घन दिला दीजिए; वह भूति-
 धियो को ससम्मान विदा कर देंगे। महाराज की अनुपस्थिति के
 लिए आप स्वयं क्षमा याचना कर लें। मैं मन्दिर में रहूँगा; आप
 राजवंश का कथन मुझ से बनाएँगे, कि उन्होंने क्या व्यवस्था दी ?
 मैं संध्या समय भारती का प्रसाद लेकर महाराज के पास जाऊँगा।”

रत्नदत्त ने आदरपूर्वक गिर झुका लिया।

आचार्य कौशिक पादुकाघो की ध्वनि गूँजारने हुए गम्भीर मन
 से चले गए।

रत्नदत्त ने आचार्य के निर्देशानुसार मारी व्यवस्था की। वंश
 जी को महाराज के पास भेजकर बोधाधिकारी से प्रबन्धक को घन
 दिलाया और सारे भूतिधियो को ससम्मान विदा किया। प्रबन्ध में
 कोई त्रुटि नहीं होने पाई। सब कुछ यथोचित रूप में होता रहा।
 अभाव था, तो अब — उस दिन किसी को महाराज के दर्शन नहीं
 हुए।

सायबाल रत्नदत्त, वंश जी को लेकर मन्दिर में पहुँचे। आचार्य
 कौशिक कोई धर्म ग्रन्थ देख रहे थे। वार्तालाप के समय वंशवर ने
 बताया—

“महाराज की शारीरिक क्षीणता का एकमात्र कारण उनकी
 मनोव्यथा है। किसी आकस्मिक घटना अथवा वस्तुनाहीन उद्देग से
 उनका हृदय बिनाजन्त रूप में प्रभावित हो गया है। यद्यपि प्रहार
 अप्रत्यक्ष है; तथापि महाराज की सहनशक्ति तो अधिक है।”

“आपने कोई उपचार किया था ?” आचार्य ने पूछा।

“हाँ, निद्रादायक तरबो से बनी सर्पगयाबटी सेवन कराई है।
 उससे मानसिक उद्देग कुछ शान्त हो आया। किन्तु वह उद्देग

प्रचलित परम्परायें भी बालान्तर में बिह्व हो जाती हैं। ऐसा ही कुछ काश्मीर में भी हुआ। महाराज दशरथ के पश्चात् नरेश भीमसेन गिहासनाधीन हुए। वे यथा नाम तथा मुग़ धे—ताजान् 'भीमसेन' के ध्वजार' बड़े ही शिवांगी और रमिक। काश्मीर के इतिहास में उन जैसा गुरा-गुन्दरी प्रिय नरेश कोई नहीं हो सका। इस क्षेत्र में वे अद्वितीय थे।

नामन मत्ता प्राप्त होने पर महाराज भीमसेन ने 'विशदेवी' भी परम्परा में मशोषन किया। उनका मकं था—'नारी नर की पूरक है—सर्पा शिनी है। एतान्नाम और नारायण द्वारा उगरी गायकता नष्ट हो जाती है। भीतिर जगत् में रज्जर भी उगरी पृथक्—समपृथक् रहने की कल्पना करना उगरी प्रहार हास्यास्पद है, जैसे किसी गर्भस्थ भ्रूण में गिहार अभिमान की धारा की जाय। यह सब धारणा के प्रति सारमंय मनुजों का दम है और प्रकृति के प्रति बलता। नारी मोन्दर का धारणा है, और मोन्दर पुरन का उगमोप है। नारी का नारीत्व उगरी नाया के विरहित में नहीं, उसके रूप-गोडन और धारण में है। और जगत् में उगरीर और नारायणरादियों की स्थिति, जो ताया के नाम पर निम्नर बुद्धादयन रहती है। इतिहास के द्वारा ही जीवन ही मूर्त्ति जैसी दीप्त रहती है, उन्हें 'विशदेवी' कहा जायगा या उगम है मूर्त्ति का धारण है और मोन्दर धारण की रज्ज मन्त्राति का परिचायक है। यह ही विचारधारा की नहीं गी-दुर्ग मत्ताम मन्त्राधों की प्रकृति का धारण है।

प्रचलित परम्परायें भी कालान्तर में विवृत हो जानी हैं। ऐसा ही कुछ काश्मीर में भी हुआ। महाराज यशकेतु के पश्चात् नरेश मीनकेतु सिंहासनाधीन हुए। वे यथा नाम तथा गुण थे—साक्षात् 'मीनकेतु' के अवतार! बड़े ही विलासी और रसिक। काश्मीर के इतिहास में उन जैसा सुरा-मुन्दरी प्रिय नरेश कोई नहीं हो सका। इस क्षेत्र में वे अद्वितीय थे।

शासन सत्ता प्राप्त होने पर महाराज मीनकेतु ने 'विश्वदेवी' की परम्परा में संशोधन किया। उनका तर्क था—'नारी नर की पूरक है—अर्धांगिनी है। एकान्तवास और तपश्चर्या द्वारा उसकी मायंकता नष्ट हो जाती है। भौतिक जगत् में रहकर भी उसमें पृथक्—असंपृक्त रहने की कल्पना करना उसी प्रकार हास्यास्पद है, जैसे किसी गर्भस्थ भ्रूण से शिखर अभिमान की भासा ली जाय। यह सब आत्मा के प्रति अकर्मण्य मनुष्यों का दंभ है और प्रकृति के प्रति बंचना। नारी मोन्दर्य का प्राणार है; और मोन्दर्य पुरुष का उपभोग्य है। नारी का नारीत्व उसकी तपस्या और विरक्ति में नहीं, उसके रूप-यौवन और आकर्षण में है। जीवन-जगत् से उदासीन और पलायनवादियों की मित्रता, जो तपस्या के नाम पर निरन्तर कुष्ठाघस्त रहती है, इन्द्रिय दमन के द्वारा जो जीवन ही मूर्ख जैसी दोग पड़ती है, उन्हें 'विश्वदेवी' कहना सम्मान का उपहास है, मस्कृति का सम-पान है और पौरुषहीन व्यक्तियों की स्त्रैण मनोवृत्ति का परिचायक है। अतः इस विरागिणियों की नहीं, मोन्दर्य सम्पन्न सज्जनों की प्रशिक्षण दृष्टा करेगी, जिसमें रूप-यौवन और आकर्षण को नारीत्वा के निर्णय दिया जाया करेगा।"

सम्पत्ति का प्रसार प्रदर्शनवादी होता है। कला और शिल्प के नाम पर उनमें घनेह आकर्षण उत्पन्न किए जाते हैं, जो अन्त

विलासिता को प्राथम्य देने हैं। महाराज यगचेतु के द्वारा प्रचलित विश्वदेवी प्रतियोगिता, मीनचेतु के समय में मीन्दर्य—प्रदर्शनी का रूप ले लिया था और, आज—महाराज मुधाकर देव के शासन काल में तो वह वेद्व्याघो, नर्तकियों का झंझावात जैसा हो गया है। फिर भी, देश-विदेश की मृन्दरियाँ उसमें सत्प्र भाग लेती हैं। जो विजयिनी होती है वह भरपूर पुरस्कार के साथ 'विश्वमुन्दरी' की गौरवमयी उपाधि से विभूषित होकर समार के मौद्र्य प्रेमियों की चर्चा का विषय बनती है।

मारा वृत्तान्त सुनकर कवन न निश्चय किया—मैं लालमा को अवश्य हममें सम्मिलित करूँगा।

घर जाकर उसने लालमा को मार्ग इतिवृत्त सुनाकर कहा—
“बन्ती, प्रभु की कृपा से ही यह अवसर मिला है। हमें इसका लाभ अवश्य उठाना चाहिए। न जाने कौन, भेरी घात्मा में पुकार-पुकार कर रह रहा है—इस बार विजयश्री लालसा को ही प्राप्त होगी। उठो, शृंगार कर लो उत्सव का समय निकट आ गया है। मैं तुम्हें प्रतियोगिता में अवश्य प्रदर्शित करूँगा। कम से कम, दशक यह तो सम्भव लगे, बिना ऐसा सयोग, रूप-गुण और मगीन-पारगति—सहज मूल्य नहीं होता।”

लालमा सहर्ष प्रस्तुत हो गई और एक घड़ी पश्चात् दोनों मुस्-
स्मिन बेगमूपा में, समागेष्ट स्थल की ओर चल पड़े। दोनों के मन घासा और उत्साह से पुलकित थे—मगवान की दया हम पर अवश्य होगी।

दशकगण यथास्थान बैठे थे। सेवक-वृन्द लाम्बूल, मुग्ध और पानक वितरण कर रहे थे। सभा-मण्डप के बीचोबीच, रंगमंच के समीप ही रत्न जटित आसन पर महाराज मुधाकर देव विराज-
मान थे। पार्श्व में निर्णायक समिति के सदस्य बैठे हुए प्रदर्शन की

प्रतीक्षा कर रहे थे ।

महाराज ने एक बार चारों ओर देखा । नर-नारियों का समूह मनोरम वेशभूषा में सज्जित, सारे पंडाल को चित्रशाला जैसा बना रहा था । उन्होंने संकेत किया । उद्धोषक ने समारोह के आदिम इतिहास पर प्रकाश डालते हुए, भाज के उत्सव की सफलता की कामना व्यक्त की । तत्पश्चात् नेपथ्य में शंख ध्वनि के साथ विभिन्न वाद्ययंत्रों का समबद्ध स्वर गूँजा । यह समारोह के आरम्भ होने की सूचना थी । दशक सजग-स्तब्ध होकर मंच की ओर देखने लगे । नेत्र स्थिर हो गए, इधर-उधर से हटकर ध्यान मंच पर केन्द्रित हो गया और वे प्रतीक्षा करने लगे—देखें भाज किस देश की सुन्दरी अपनी विजय पताका सहराती है ?

उत्सव की अन्तराष्ट्रीय ख्याति मिल चुकी थी । गूढ़र पूर्वी और पश्चिमी देशों के दशक और सुन्दरी-समूह उगमे भाग लेने के लिए आते थे । मंच निर्देशक का संकेत पाकर सूत्राधार ने मुख्य स्थल पर सटक रहा भावरण हटा दिया । उनके पीछे एक गायत्री वामा खड़ी थी । लोगों ने देखा, तो मुख्य हो गए रूप साक्ष्य की वह प्रतिभा उन्हें अतिशय प्रिय लगी ।

फिर कमलः एक-एक करके बर्द देशों की सुन्दरियों ने अपने-अपने रूप, मञ्जा, मुद्रा और नृत्यज्ञान का प्रदर्शन किया । दशकों का कोरूहान बढ़ता जा रहा था । 'धन्य-धन्य' के शब्दों से सभी दिग्गो को धेष्टता मिलती थी, सभी दिग्गो को । सब लोग अन्तिम निर्णय की प्रतीक्षा कर रहे थे ।

पहले कथन का मन नहीं था कि वह सानगा को मंच पर भेजे । एक प्रचार का अन्तर्द्वन्द्व उसे आगे-पीछे की ओर खींच रहा था । किन्तु अनेकानेक सुन्दरियों के प्रदर्शन एवं उनको मिलने वाली गा देनकर वह अपनी सग विज्या पर तयम न कर गया ।

अन्ननः उनने मानसा ने कहा—“प्रिये ! इसनि घोर प्रणया के शिखर पर पहुँची हुई इन देग-देगान्नर की गुन्दरियों के मध्य, अब तुम अपने रूप घोर बना का कीर्तिमान स्थापित करो । यदि मक-लना मिल गई, तो हम दोनों राजगुग के अधिकारी हो जाएँगे । उठो, मंच पर जाकर अपने मगीन घोर नृत्य के सम्मोहन का प्रभाव दिखाओ । हम तारक-मण्डली के बीच, बिना तुम्हारे चन्द्रोदय हुए, रंगमंच प्रकाशित न होगा । देगो न दर्शक समूह बितने घानुर हो रहे है ।”

लालसा महत्वाकांक्षी नारी थी । वैभव-विनाश की चरम सीमा उसके जीवन का ध्येय था । सोमदेन के साथ वह विवश भाव से रही थी । उसकी अपेक्षा कचन अधिक रचा था किन्तु गृह त्याग के बाद वह भी वैभव बचिन हो गया था, अन्ततः लालसा की आकांक्षाएँ कुञ्चित हो गई थी । यह अभाव, यह वेदना उसे कभी-कभी कचन से दूर, शून्य में किसी अन्वेष आधार की खोज में भटकने देती थी । उस समय लालसा की मनोदशा उस एकाकी पक्षी की भाँति हो जाती थी, जो महासागर का सन्तरण करने हुए जनयान की पनाका को छोड़कर दूसरे आश्रम की खोज में इधर-उधर उड़ता है, किन्तु चारों ओर से निराश होकर अन्ततः फिर उसी पर आ बैठता है । लालसा कचन से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं थी । वही कोई अज्ञान-सा अभाव लटकना रहता था, ओर उसकी पूति के लिए वह जाने-अनजाने कभी-कभी जीवन-जात के दूसरे क्षेत्रों की ओर उन्मुख हो जाती थी ।

कचन का निर्देश पाकर उसके अधिकारप्रिय स्वभाव ने धँस-झाई ली । उठकर लड़ी हुई ओर अलस-आदक नेत्रों से दर्शक मण्डली का आह्वान करती हुई, भयन्द गति से मंच की ओर चल पड़ी ।

जैसे ही, उसने मन्च पर पदार्पण किया, अमानिशा में चन्द्रोदय हो गया। उसका वह ज्वलन्त रूप, मादक सौन्दर्य, उन्मादकारी मुद्रायें और सुसज्जित वेश विन्यास देखकर, सारी सभा ध्वित रह गई। लगा—अब तक के सारे प्रदर्शन अवास्तविक और छायामाय थे; विश्व का समस्त लावण्य अब मूर्तिमान होकर समक्ष उपस्थित हुआ है। कितने ही व्यक्ति तो उसे अलौकिक नारी—कोई देव-लोक की सुन्दरी—मानकर मन ही मन थढ़ावन्त हो गए। वैसा मजीब सौन्दर्य, वैसा पुञ्जीभूत आकर्षण किसी ने देता-सुना नहीं था।

नृत्य आरम्भ हुआ। लालसा भारतीय प्रणाली के कितने ही नृत्यों में पारंगत थी। उसने सर्वथा विरोधी मुद्रा वाले नृत्यों का भी कुशलता से प्रदर्शन किया कि, उनमें भेद और सन्धि का पता चलना असम्भव हो गया। काश्मीर नरेश के सारे समासद आश्चर्य ध्वित रह गए। दूसरे प्रतिधि भी मन ही मन सोचने लगे—यह मानवी है या किन्नरी? लालसा ने गरुड़ नृत्य और सर्प नृत्य का मिश्रित रूप दिवाने में इतनी सफलता पाई कि दर्शकों को अपने पर सन्तुलन रखना कठिन हो गया। वे भाव विभोर होकर घासन उठ सड़े होने थे और बारम्बार 'घन्य-घन्य' की ध्वनि से पण्डाल ध्वम्पित कर देते थे।

भाव नृत्य के पदचातू लालसा ने एक गीत प्रस्तुत किया। गीत का वा, समुत् की वर्षा थी। उसके मादक रूप, मोहक स्वर सहर्ष उद्दीपक मुद्रायें और वाद्ययंत्रों की मधुर ध्वनि ने सारी सभा को स्तब्ध कर दिया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि लालसा ने अपने गंगीत द्वार को अथवा स्तम्भित कर दिया है। सारे गदस्य मूर्तिवन् दंडे दृष्टि में उगी की ओर देग रहे थे। किसी में न कोई धेन्डा।

मन्त्रमुग्ध जैसे धेठे थे लालसा के रूप और गंगीत

संगीत समाप्त होने पर मेरे गुरुदेव ने गलागदो की मम्मति माँगी — “इस गाने आयोजन में आप लोग गपपना का अधिकार किसे देना चाहते ?”

जैसी कि प्रत्येक व्यक्ति की पूर्ण वाग्म्या हो, बिना किसी विवाद प्रतिके के, मान्यता ही विषयों की अधिकारिणी हुई। मंत्री ने महागुरु के निर्णय का गाना पूरा योगित किया — “आप लोग जानकर प्रसन्न होंगे कि रत्नाग्रहो की मम्मति में महागुरु ने, इस कार्य की प्रतियोगिता में देवी मान्यता का विद्वमुन्दगी की गौरवमय उपाधि प्रदान की है। आशा है, आप सब लोग भी उन्हें अपनी शुभवाचनाएँ अर्पित करेंगे।

इसकी प्रतिक्रिया में गमक पर उनकी पूर्ण वर्षा हुई कि अलग-अलग के लिए महागुरु गुरुदेव मंत्री, मान्यता और राजपुरोहित अद्वय हो गए।

“कदाचित् आपको भूचना नहीं मिल सकी—यदुनाथ ने तब जोड़कर बनाया—”महाराज बल रात्रि से अस्वस्थ हो गए हैं। उनका अनुपस्थिति का कारण है।”

“अस्वस्थ है। क्या हुआ उन्हें? उन्मत्त-समाप्ति तक तो स्वस्थ और प्रसन्न थे। पुरस्कार वितरण भी मोत्साह किया। फिर सहसा किस व्याधि ने उन्हें प्रमत्त कर लिया?” मंत्री के पर चिन्ता की रेखायें उभर आईं।

“आज प्रातः—यदुनाथ ने बताया—राज-पुरोहित जी के साथ थे। उसके पूछने पर महाराज ने बताया था—“हृदय में उल्टा सतापयुक्त पीड़ा, तथा मस्तिष्क में विस्मृति जैसी छाई हुई व्याधि बोलने नहीं, केवल दो-चार वाक्य कहकर चुप हो गए थे।”

“आज उठकर आंगन में आये थे?”

‘हां, आए तो थे, किन्तु बड़े कष्ट के साथ वे अतिशय शिथिल हो गए हैं। घल-जल की तो चर्चा ही व्यर्थ है, उन्होंने औषधि नहीं ग्रहण की।’

“शिव! शिव! महाराज चिरायु हो। तुम जाकर पुरोहित जी से निवेदन करो कि मैं अभी इसी समय उनसे मिलना चाहता हूँ। विदेशी प्रतिधियों की विदाई का प्रश्न विचारणीय है।”

गिर झुकाकर यदुनाथ ने आज्ञा स्वीकार की और मंदिर और चल पड़ा। मंत्री रत्नदत्त वही विचारमग्न खड़े मोचते रह गए। इस प्रकार सहसा जिस विपत्ति ने हमारी व्यवस्था को छिन्न का विचार किया है? यदुनाथ जो कुछ बता रहा है, उसके मत से महाराज की स्थिति चिन्ताजनक प्रतीत होती है। उपाय औषधि तक नहीं ली। तब?

वे इन्हीं मानसिक तर्क-चिन्तन में उलझे हुए थे। सहसा लड़

“यदुनाथ !”

यदुनाथ महाराज सुधाकर देव का खास विश्वासी अनुचर और एकान्त अंगरक्षक था। इस समय वह बैठा अपने धनुष की डोरी कस रहा था। सम्बोधन सुनकर उठ खड़ा हुआ। देखा, तो सामने से महामंत्री रत्नदत्त आ रहे थे। धनुष रख दिया और हाथ जोड़कर सम्मान प्रदर्शन करते हुए बोला—“भाजा दीजिए।”

“महाराज अभी तक पूजागृह में नहीं पधारे ! समय समाप्त हो रहा है। सभासदों से भी उन्हें कुछ परामर्श करना था !” रत्नदत्त के स्वर में सहज चिन्ता का भाव था।

यदुनाथ ने कुछ कहना चाहा, तभी मंत्री ने फिर अपना वक्तव्य आरम्भ किया—“समारोह में आये हुए कई प्रतिधियो को विदा करना है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी कार्य है। इन विषयों पर मैं अपना एकांगी निर्णय देना उचित नहीं समझता। तुम अन्तःपुर जाकर मेरी ओर से महाराज को इन प्रश्नों से अवगत करा कर उनका आदेश मेरे पास ले आओ। जिससे यदि वे आज सभा में आ सकें तो भी मैं सारी व्यवस्था कर लूँ।”

“हाँ मंत्रिवर ! आपका अनुमान सत्य है। महाराज आज और अंभवतः दो-चार दिन तक सभा में नहीं आ सकेंगे।”

“क्यों ?” मंत्री ने चकित होकर पूछा।

“कदाचिन् आपको सूचना नहीं मिल सकी—यदुनाथ ने हाथ जोड़कर बताया—“महाराज कल रात्रि से अस्वस्थ हो गए हैं। यही उनकी अनुपस्थिति का कारण है।”

“अस्वस्थ हैं। क्या हुआ उन्हें? उत्सव-समाप्ति तक तो पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न थे। पुस्तक वितरण भी मोत्साह किया था। फिर सहसा किस व्याधि ने उन्हें पस्त कर लिया?” मंत्री के मुख पर चिन्ता की रेखायें उभर आईं।

“मात्र प्रातः—यदुनाथ ने बताया—राज-पुरोहित जी आये थे। उसके पूछने पर महाराज ने बताया था—‘हृदय में उर्दग, सतापमुक्त पीडा, तथा मस्तिष्क में विस्मृति जैसी छाई हुई है। अधिक सोने नहीं, केवल दो-चार वाक्य कहकर चुप हो गए थे।’

“मात्र उठकर भोगन में आये थे?”

‘हां, आए तो थे, किन्तु बड़े कष्ट के साथ वे प्रतिशय शिथिल हो गए हैं। मल्ल-जल की तो चर्चा ही व्यर्थ है, उन्होंने शोषधि भी नहीं ग्रहण की।’

“शिव! शिव! महाराज विराम्य हो। तुम जाकर राज-पुरोहित जी से निवेदन करो कि मैं अभी इसी समय उनसे भेंट करना चाहता हूँ। विदेशी प्रतिधियों की विदाई का प्रश्न विचारणीय है।”

मिर भुवाकर यदुनाथ ने आज्ञा स्वीकार की और मंदिर की ओर चल पड़ा। मंत्री रत्नदल वही विचारमग्न लड़े मोचते रहे—इस प्रकार सहसा किस विपत्ति ने हमारी व्यवस्था को छिन्न करने का विचार किया है? यदुनाथ जो कुछ बना रहा है, उसके अनुसार तो महाराज की स्थिति चिन्ताजनक प्रतीत होती है। उन्होंने शोषधि तक नहीं ली। मंत्र?

वे इन्हीं मानसिक तर्क-वितर्क में उलझे हुए थे। महाराजड़ाठधों

की ध्वनि सुनकर ध्यान भंग हो गया । घूमकर देखा तो दाहिनी ओर से राज-पुरोहित आचार्य कौशिक आ रहे थे—बुद्धिमान स्वस्थ शरीर, श्वेत केश मस्तक पर वैष्णव सम्प्रदाय का तिलक, नेत्रों में विद्वत्ता का तेज और आनन पर ब्राह्मण सुलभ तपश्चर्या की अलौकिक कान्ति । वे पीताम्बर और उत्तरीय धारण किये हुए थे जिसके नीचे से भाँकता हुआ मशोपवीत उनकी क्रिया निष्ठा की सूचना दे रहा था ।

मंत्री ने आगे बढ़कर उनकी आभारार्चना करते हुए हाथ जोड़कर सिर झुकाया—“आचार्यजी ! मैं रत्नदत्त आपको प्रणाम करता हूँ ।”

“आपका मंगल हो ।” आचार्य कौशिक ने कहा और स्वस्ति मुद्रा में हाथ ऊपर उठा दिये ।

दूसरे क्षण वे आमने-सामने थे ।

आचार्य कौशिक वस्त्रतः साधु एकत्रि के व्यक्ति थे । राज-

जैसे जलज विकसित हो जाय, सहज स्थिति के भाव से मुनि-
बाता ने कहा—“भाप चितित न हो, मैंने इसे एक प्रहर मात्र के
लिए दक्षित किया है; फिर यह उठकर चेतन्य हो जाएगा।”

“मच्छा !” सादर्यं श्रद्धा का भाव लेकर वे कन्या के साथ
चल पड़े।

श्रीर, जइ नरेण ने विदा मांगी तो महर्षि गौरव ने अनेक
मांगीयो सहित उन्हें उपदेश दिया—

‘यत्र नामंस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता।’

बादमीर लौटने पर महागज यशकेतु ने अपने राज पुरोहित
की सम्मति से, राजधानी में यापिक समागोह के रूप में देवी पूजा
का प्रचलन किया। नार्ग का शिखर की आदिनाकिन देवी का
प्रतीक मान उस सम्मानित करने का दिधान किया गया। प्रांत
वर्ष धर्म पूर्णिमा को विभिन्न दण्ड-प्रदना के मुनि परिवार एकत्र
होन से, जिनमें दम्प्यर तपस्वियों, साम्राज्य और अध्यात्म पर
बार्तालाप होता था। प्रधानता स्थिया को हा जानी थी। सामना
महिलाओं में जा सर्वाधिक नर्जात्विनी प्रांतभा सम्पन्न विदुषी
और शील-मयम शान्तिनी होती थी। उस आमासी पांच वर्षों के
लिए विद्वद्वर्षी की उपाधि में विभीषण किया जाता था। इस
अर्वाधि में आर्य सगृहीत के प्रसार का साग क्षत्र उस भगवती दुर्गा
सम्वन्ती और लक्ष्मी का अवतार मानकर श्रद्धा-विनय रहना
था। पांच वर्षों में उस अनुत्त सम्मान और दण्ड प्राप्त हो जाता
था। इस अर्वाधि के पदधातु वह सवसे विरम्य हाकर, निरा एवान्त
में तपस्वियों करके साथ जीवन कटनीय करना थी। समाज-सम्यक्
उसके लिए संबंधी नाथिद हो जाना था। अन्त में उसने सब कहा
समाधि भी इसका निमी को पता भी नहीं चलता था।

समय का आचरण बड़ा परिचयनकारी होता है। विर-

कैसा है, इसके विषय में यदि महाराज का कोई अन्तरंग व्यक्ति प्रयास करे तभी कुछ ज्ञात हो सकेगा। निश्चय ही, वह कोई गोपनीय विषय है, और महाराज उसकी चर्चा हम सबसे नहीं करना चाहेंगे।”

वाताररण गम्भीर हो गया था। थोड़ी देर तक तीनों राज प्रतिनिधि बातें करते रहे; फिर उठकर अपने-अपने स्थान की ओर चले गए।

एक सप्ताह बीत गया। महाराज की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। वे यथावत् अन्तःपुर में लेटे रहते थे। बाहर कभी नहीं आए। राज्य का सारा भार मन्त्री रत्नदत्त के ऊपर आ पड़ा था। सारे कर्मचारी उन्हीं की आज्ञानुसार कार्य कर रहे थे। आचार्य कौशिक की व्यवस्थानुसार, महाराज के कल्याणहेतु धार्मिक विधिविधान भी किए गये; तन्त्र-मन्त्र और हवन पूजन की व्यवस्था की गई; किन्तु परिणाम कुछ न हुआ। वह सारी पूजा सारे विक्षिप्त प्रयास प्रभावहीन ही प्रसिद्ध हुए। नरेश का स्वास्थ्य, उनकी मनोदशा पूर्वत् रही तन-मन की व्यथा से व्याकुल, वे विक्षिप्तों की भांति निरन्तर करवटें बदलते रहते थे।

अगले दिन दोपहर के समय जब एक सेवक महाराज को चन्दन का जल देने गया, उन्होंने देखा—सेवक कुछ कहना चाहता है। पूछा—“क्या है? कुछ कहना चाहते हो?”

“हाँ, महाराज!” सेवक ने भय-संकुचित स्वर में उत्तर दिया।
“बताओ।”

“सेनापति जी आए हुए हैं, आपके दर्शन करना चाहते हैं।”

जैसे अन्धे को दिव्य दृष्टि मिल गई हो, इस प्रकार प्रसन्न-चकित मुद्रा में महाराज ने आतुर होकर पूछा—“सेनापति! कब आए वह? कहाँ है इस समय?”

"भाज ही भाए है महाराज ! इस समय वे द्वार पर आपकी
की प्रतीक्षा कर रहे है ।"

"ले आओ !"

सेवक चला गया ।

महाराज सुधाकर देव सेनापति के विषय में सोच रहे थे—

सेनापति नागपाल ही तो मेरा एकमात्र अन्तरंग और अनन्य
है । मित्र और कुटुम्बी की भाँति हितैषी होकर भी वह
कितना आज्ञाकारी अनुगत है ! और घोरता में तो अद्वितीय
जस युद्ध में भी गया, विजय वरण करके लौटा । इतना निर्भीक
व्यवहार कुशल है कि कोई भी संकट हो पार कर लेता है । युद्ध
की भाँति जीवन सधाम में भी उसे सदैव सफलता मिलती है ।
अवसर पर आया है । मेरे कष्ट निवारण का कोई न कोई
! अवश्य सोज लेगा ।

ठीक इसी समय नागपाल ने वहाँ प्रवेश करके महाराज को
। विधा । महाराज उठ बैठे । नागपाल को देखते ही उनकी
। कई घण्टों में कम हो गई, शरीर में स्फूर्ति की एक लहर
दौड़ी और नेत्र कुछ अधिक तेजोमय हो उठे । पास बैठने का
। करने कहा—

"मेरे परम हितैषी ! तुम्हारी अनुपस्थिति ने मुझे जंजर कर
।"

"क्या करना महाराज, वहाँ प्रसंग ही कुछ ऐसा आ गया था
मुझे रचना पड़ा । राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा पर घबनों की
आक्रमण करना चाहनी थी । पता चलते ही, मैंने वहाँ के लिए
। न कर दिया । शत्रु को सीमा के बाहर परास्त कर देने से
। रहना है ; अन्यथा वह भीतर प्रवेश करने अधिक उपद्रव कर
। है ।"

। फिर, क्या हुआ यवनों की सेना का .

“वही जो होना था। आपके पुण्य प्रतीति में उसके चार प्रधान नायकों को समाप्त कर दिया। पाँच मौ यवन बन्दी बनाए गए और शेष अपने अस्त्र-शस्त्र छोड़कर भाग गए। मेरा विश्वास है, वे अब कम से कम एक दशबन्दी तक इस और देखने का साहस नहीं कर सकेंगे।”

“घन्य हो बीरवर ! तुम जैसे कर्तव्यपरायण व्यक्ति ही तो राज्यो की रक्षा करते हैं !”

नागपाल ने विनय और कृतज्ञता से मिर झुका लिया। महाराज मुवाकर देव कुछ मोचने लगे।

नागपाल ने पूछा—“आपकी अस्वस्थता का समाचार पाकर मैं चिंतित हो उठा हूँ। क्या कोई उपचार लाभप्रद नहीं हो रहा ?”

“हाँ, मित्र !—महाराज ने एक लम्बी साँस छोड़ी, जो उनकी निराशा को व्यक्त कर रही थी—“मेरी व्याधि अभी ज्यों की त्यों

“क्या कष्ट है ? कही पीड़ा हो रही है ?”

“हाँ यही बात है। मेरे मन में, मस्तिष्क में और हृदय में, गि में पीड़ा हो रही। उसके कारण मैं व्याकुल हूँ। आज एक दिन से भी अधिक हो रहा है, मुझे निद्रा नहीं आई, भूल मर और शरीर भीतर ही भीतर क्षीण होता जा रहा है।”

“अरे !—नागपाल ने शक्ति होकर पूछा—यह सब कैसे शराज ? मैं तो एक महीने से बाहर रहा हूँ; कुछ पता ही नहीं चल सका। आज अभी यदुनाथ ने बताया है। इस ब्यथा ने आपको कैसे छू लिया ?”

“अब क्या बताऊँ नागपाल, अभी पिछले सप्ताह बही ममारोह आया था—‘विश्वमुन्दरी प्रतियोगिता’ ! उमी ने मुझे मर्यादित

कर दाना ।”

नागपाल ने आगव मममा नहीं था, चकिन दुष्टि मे उनरी धोर देनता रहा ।

महाराज ने घटना क्रम पर प्रकाश डाला—“उममे घनेक देतो की मुन्दरिया घाई थी—एक मे तक बडकर । किन्तु मानमा ने सबको पराम्त कर दिया । यही तब मैं भी उममे पराजित हो गया । यही मेने दयवा का कारण है । अब यदि मानमा मुझे हस्तगत नहीं होनी तो मैं विक्षिप्त हो जाऊँगा, यह ध्रुव निश्चित है ।”

“मालसा ! कौन मालसा ? महाराज ! यह मुन्दरी कहीं से घाई थी ?” नागपाल ने पूछा ।

“घरे बहो—कानी बाने गायक कचन की प्रियमी ।

आह ! अब मैं तुममे क्या बताऊँ मेनापति ! उस रमणी का सा युवक भुवन मोहन रूप मैंने नहीं देखा । उस समारोह में उसकी थी, उसका मोन्दर्य जैसे शतगुण होकर निखर उठा था । वैसा अचेतनकारी रूप, वैसी उन्मादक मुद्रा और वैसा मनोहर नृत्य, मेरी धारणा है—स्वर्ग में भी दुर्लभ होगा । आह, मालसे ! आकर देख, मैं तेरे वियोग में किम प्रकार व्याकुल हूँ !” कहने हुए नरेश गुप्तावर देव ने आँखें मूँद ली और क्षिप्त भाव से लेट रहे ।

नागपाल व्यावहारिक जीवन में अनुमयी था । मानवीय दुर्बलताओं में अली-भ्रांति परिचित था और समस्याओं के समाधान में—समन्वय में अभ्यस्त । उसका प्रत्युत्पन्न मतिस्व बढ़े-बढ़े प्रश्नों को सुलभा देता था । समझ गया कि महाराज की मग्मथ ने आशान्न कर रखा है और उसके पात्र से मुक्ति का एवमान विवल्प है—मालसा की श्राप्ति ।

उमने निस्मकोच भाव से कहा—“उमके लिए आप इनने

व्याकुल क्यों हो रहे हैं महाराज ! आपका सेवक आज ही रात्रि में उसे आपके सम्मुख उपस्थित कर दंगा ।”

“कैसे ? क्या इतनी मरलता से वह मुझे वरण कर लेगी ?”

“महाराज ! यह सारा भार मेरे ऊपर रहा । आप किसी प्रकार के विवाद-विरोध की चिन्ता न करें ।”

“और कंचन ?”

“उस स्त्रैण से कैसी आशंका ? उसे क्षण-भर में सदा के लिए लालसा से पृथक् कर दूंगा । विश्वास करें, आपकी लालसा-पूर्ति के लिए मैं आज ही आपकी मनोनीत लालसा को प्राप्त करके यहाँ ले आऊँगा । आप सर्वथा निर्द्वन्द्व होकर उसका उपभोग करें ।”

“तो, क्या कंचन की हत्या करोगे ? सोचो, इस प्रकार हत्या अथवा अपहरण के द्वारा हमारे ऊपर लांछन भी तो आ सकता है !” प्रजावर्ग क्या कहेगा, सभासद क्या सोचेंगे, यह भी तो विचार कर लेना है !”

“आप इस ऊहापोह में न पड़े महाराज ! समर्थ को सब कुछ क्षम्य है । रत्न की शोभा आभूषण में जटित होने में ही है, कहीं रख देने में नहीं । ठीक इसी प्रकार सुन्दरी स्त्री के लिए भी सुन्दर-सम्पन्न और समर्थ पुरुष चाहिए । लालसा के लिए कंचन सर्वथा हेय है । उसके लिए आप जैसे प्रतापी पुरुष का अङ्ग-पर्यंक चाहिए ।”

“किन्तु यदि वह अस्वीकार कर दे, तब ?”

“इसकी तो कल्पना ही व्यर्थ है स्वामी ! सुन्दरी स्त्री सदैव महत्वाकांक्षिणी होती है । अधिकार लिप्ता उसके रोम-रोम में व्याप्त रहती है । कंचन के पास क्या है ? उसके समक्ष रहकर वह गमणी अन्तः एक नर्तकी ही तो है ! यहाँ आते ही उसकी प्रतिष्ठा और प्रतिष्ठि में घरती आकाश का अंतर आ जाएगा । राजरानी

पद का मोम घीर भीतिर मुविषाघो का धार्यन उमे छावनी
घीर नन-वन मे धनुस्वन गयेगा ।”

नरेश मुपाकर देख विचार मान बैठे मोचने गये—“कड़ी यह
मांगी कल्पना मृग-मगीनिरा भी नहीं मिट होगी ?

नागपाल उनके घनाईन्द बी, उनकी भीमता को समझ
गया । बोला—“घीर उसको साक्ष्य करने में गद्यमे बड़ा महायक
होगा आपका व्यक्तित्व । कवन आपका पदवाण भी तो नहीं है ।
स्मरण करें जब-जब भी आप विदेश-यात्रा पर गए, वहाँ किननी
तर्गिदाँ आप पर खोलखिर होने को प्रस्तुत थी । आपकी भूजाघीं
के बग्यन मे लालसा कभी पृथक् नहीं होना चाहेगी, छाव की भाँति
आपकी इच्छाघो का धनुस्वन बरेगी, यह मेरा अटन विश्वास
है । उसकी मनोवृत्ति मे मैं भनी-भाँति परिचित हूँ । केवल तीन
पहर का समय दे, गत को लालसा महर्ष आपकी साम्बान अर्पित
करेगी ।”

नरेश ने कुछ कहा नहीं, केवल मुस्कराकर रह गए । नागपाल
ने देखा—महाराज के नेत्रो मे आशा घीर उन्साह की ज्योति आ
गई है घीर मुख पहले की अपेक्षा कानियुक्त हो उठा है ।

उमने उठकर विदा मांगी घीर पूर्ववत् अभिवादन करके चला
गया ।

दुसरे दिन श्रीनगर की जनता ने सुना—

“काशी के रत्नधर्मिष्ट कचनकुमार को राजकोष की सम्पत्ति
का दुरुपयोग करने के अपराध मे आजीवन कारावास-दण्ड दिया
गया है । उनकी पत्नी, जो अभी कुछ दिन पूर्व विश्वमुन्दरी घोषित
हुई थी, महाराज की विशेष कृपानुसार राजभवन मे रहेगी । एक
तस्वर पनि की पत्नी होना; ‘विश्वमुन्दरी’-पद के लिए कर्त्तव्य की
ज्ञान थी । अतः महाराज ने गजकीय अनिष्टा की सुरक्षित रखने के

लिए लालसा को अपने कण्ठ में लेकर राज महिषी का पद दिया है ।”

लोग चकित रह गए—यह कैसी व्यवस्था है भगवान ! वह तो कंचन का इतना सम्मान होता था ।” और वहाँ एक ही रात में यह दण्ड ! फिर उसकी पत्नी को राज महिषी का पद देना !

किन्तु, इस सारे काण्ड की प्रेरणा और कार्यान्वयन की वास्तविकता के विषय में यदि किसी को कुछ ज्ञात था, तो वह था सेनापति नागपाल; वस !

लालसा को पाकर नरेश मुघाकर देव की सारी व्यथा दूर हो गई । सारा उत्ताप-सन्ताप मिट गया । विस्मृति और विक्षिप्त न जाने कहाँ चली गई ? अब वे पहले से भी अधिक स्फूर्ति, तेजस्वी और प्रसन्न दिखाई पड़ते थे । लालसा जैसी प्राण संजीवनी ने उनके रोम-रोम में उत्साह और शौर्य भर दिया था । अब वे सभा में बैठते, तो इतने जागरूक और प्रत्युत्पन्न मति होकर कि समासदों को आश्चर्य होता था ।

नगर में इस घटना की आलोचना न हुई हो, ऐसा नहीं था । शीनगर और उसके बाहर काश्मीर की सीमा तक इसकी चर्चा हुई; किन्तु आंधी फिर भी आंधी ही तो ! अन्ततः उसे शान्त होना पड़ा है । राजा समर्थ होता है—विशेषतया मुरा-मुन्दरी के प्रसंग । इस क्षेत्र में वह मुक्त मन से स्वेच्छाचरण करता है । महाराज पाकर देव भी इसके अपवाद नहीं थे । लालसा को लेकर वे मुक्त होकर करने लगे । उन्हें न कोई चिन्ता थी, न आशंका । उनका लालसा तक सीमित था । दूसरे विषयों की ओर से आँखें कर वे अपने एकान्त विलास पर केन्द्रित हो गए थे ! यही जीवन की साधना थी यही उसकी सार्थकता । राज्य व्यवस्था का भार अब नागपाल के कंधों पर था ।

मुग़ावर देव के स्थानापन्न प्रथवा उत्तराधिकारी की भाँति वही प्रब शायन-भूष का संचालन करना था। नरेग निश्चिन्त थे; घोर प्रथा सोच रही थी—देखें प्रब क्या होता है ?

राजभवन में आकर लातसा को खेद-प्रवासाप नहीं हुआ। कंचन के कारावास से वह तनिक भी विचलित नहीं हुई। ऐसी घटनाएँ उसके जीवन का अन्त बन चुकी थी। धैर्य का सबसे बड़ा आधार था, उसकी इच्छानुसार अधिकार-संपन्न पद। राजमहिषी होकर वह चरम तृप्ति की सीमा पर पहुँच गई। वहाँ नर्तकी-भुषी और वहाँ वाश्मीर नरेग की रानी। कितना अंतर था दोनों स्थितियों में। कैसा खेद और कैसा प्रवासाप ? कंचन की प्रपेक्षा वाश्मीर नरेग अधिक श्रेष्ठ थे—रूप में, गुण में, सत्ता में और वैभव में।

लालमा ने पहली ही रात अपना तन-मन-धन—सर्वस्व महाराज मुग़ावर देव को अर्पित कर दिया। पूर्ण मन-स्तुष्टि के साथ वह नरेग के बख़ से आनिर्गुन होकर, उन्हीं में लक्ष्मण हो गई। कुठा प्रथवा सबोच का कोई भाव उन्हें छू ही नहीं सका। शयनकाल में पहुँचते ही दोनों ने एक दूसरे को धीमे से देखा और, विद्युत्प्रगति में आगे बढ़कर अनादृश की भाँति शाश्वत हो गये। जान पड़ा—जैसे दोनों युग-युगों में एक दूसरे की प्रतीक्षा कर रहे थे।

महाराज ने लालमा का धिक्क उठाकर धातुदमयी दृष्टि से पूछा—“लालमा मुझमें मनुष्य हो ?”

उत्तर में लालमा के अदृश नयनों ने उत्तर दिया—“बल्यता से भी अधिक।”

एक अक्षुब्ध-सीमाकार के साथ दोनों लक्ष्मणप्रणयी एकाग्रता हो गए।

लालमा का जीवन उस विषोद की भाँति था, जिसके लीनो

विन्दु अपना पृथक् महत्त्व रखने हैं। वे एक दूसरे की महत्ता को स्वीकार करने हुए भी अपना अस्तित्व दूसरे में न्य नहीं करना चाहते एक विन्दु पर झालसा थी। वह सोच रही थी—जीवन में कितना परिवर्तन होता रहता है ! एक दिन मैंने अपनी माँ के साथ वृन्दावन के मन्दिर में नृत्य किया था। वहीं सोमदत्त से भेंट हुई। फिर उसके माय चिदम्बरम् गई। वहाँ से कंचन के साथ काशी पहुँची। काशी से निर्वासित होने पर कंचन मुझे काश्मीर ले आया, और आज मैं विश्व सुन्दरी होने के माय-साथ काश्मीर नरेश की राजमहिषी हूँ ! भाग्य कितना प्रबल होता है !

महाराज सुधाकर देव कल्पनालीन थे—आह ! सौंदर्य का यह ज्वलन्त रूप कितना भादक है ! एक ही दृष्टि में इसने मुझे घराशायी कर दिया था। जब तक यह सुन्दरी हस्तगत नहीं हुई, मैं कितना व्याकुल-विकल था। धन्य हो नागपाल ! तुमने मित्र और सेवक दोनों का कर्तव्य निभाया तुमने तो इतनी सरलता से कदाचित् मैं इस रूपराशि को नहीं पा सकता था।

और, कारागार की एक अंधेरी कोठरी में बैठा कंचन अपने से कह रहा था—जिस दिन काशी से चला था मार्ग में कहीं कोई छात्र पढ़ रहा था—‘भार्या रूपवती शत्रुः’। जान पड़ता है, वह मेरे भविष्य की ओर इंगित कर रहा था ! कितना कठोर सत्य छिपा था उसकी उक्ति में आह, सचमुच लालसा का रूप मेरा शत्रु ही सिद्ध हुआ। ओ भगवन् !

पामोद और बिहार में तीन वर्ष व्यतीत हो गए। महाराज मुषावर देव ने इन अवधि में गारे देव का अमण किया। लालसा भाव रहनी थी। उन्होंने नृप होकर मनोरजन किया। चिन्ता प्रयत्न प्रभाव की छाया भी उन्हें नहीं छू सकी। राज-कार्य चलता रहा और महाराज यथावत् विलास-गोन रहे। वही कोई व्यक्तिक्रम नहीं, वही कोई व्यवधान नहीं। सेनापति नागपाल अपनी पूरी शक्ति से सारी व्यवस्था संभाले रहा।

मदा की भीति उस दिन महाराज जब बिहार के लिए चले। शारदीय पूजिया थी। चन्द्रमा की प्रमृन्मयी किरणें परालोक को प्रकाशित कर रही थी। उनका नीनल सुखद स्पर्श प्राणिमात्र के प्रवनाद और बलान्ति को मिटा रहा था। वायु में भी एक प्रकार की स्फूर्तिदायिनी मादक नीतनता व्याप्त थी। नीले आकाश में मन्तरण करना हुआ चन्द्रबिम्ब, सरोवर के राजहम की उपमा साकार कर रहा था। शीत से भोगी रात्रि किसी सद्यः स्नाता मृदनी की भीति रमिकों को खचल कर रही थी। सर्वत्र एक मुग्धि और मादकता जैसी व्याप्त थी। घातावरण इनका मनोरम था, जैसे घमगावनी की रात्रि हो।

धीनगर में एक विमाल सरोवर था—‘मुषामिधु’। वही महाराज की अवधीता होनी थी। जिस समय वे पहुँचे, कितनी ही

शीतल ज्योत्स्ना, मंद-सुरभित वायु, द्राक्षाफेन का उन्मादकारी प्रभाव और प्रेदसी को मृणाल बाहुओं का सुलदबधन । इन सबनेन रेश को आत्म-विभोर कर दिया था । उनका प्रणयी हृदय, वासना लिप्त मन, सहज विश्वासी स्वभाव, निश्चिन्त उदारता और सहसा प्रवर्ती युवनी मनोवृत्ति इस समय एक साथ उन्हें प्रेरित कर रहे थे—
“लालसा के लिए कुछ तो करो !”

अन्तर्मेन की इसप्रेरणा की अवहेलना सम्भव नहीं थी । लालसा की तृप्ति को जानते हुए भी नरेश ने फिर कहा—“तो भी अपनी कोई कामना बनाओ । मैं वचन देना हूँ”—उन्होंने अपने वक्ष पर हाथ रखा—“यदि धरा से स्वर्ग तक वही भी तुम्हारी अभीसिप्त वस्तु का अस्तित्व होगा तो उसे साबर तुम्हें अर्पित करूँगा । बोलो, क्या इच्छा है ?”

“मेरे स्वामी !”

“हाँ, हाँ बनाओ न ! मैं तो स्वयं उसी की प्रतीक्षा कर रहा हूँ ।”

असम भाव में झेंगड़ाई लेकर, अर्ध निमीलित नेत्रों से अनालि का भाव प्रदर्शित करने हुए लालसा ने एक बार तर्जनी से महाराज का अघर स्पर्श किया, फिर बोली—“मुझे आपन विश्व सुन्दरी बनाया है । यह गौरव समार में एक मात्र मुझे ही प्राप्त है । तो, जानना है कि मेरे लिए एक ऐसा अवन बनवाए जो अपनी सुदृग्गता में, विश्व का प्रथम और अन्तिम हो । मेरे रूप और आपन प्रेम का वह समारक जब तक रहेगा, मैं किसी भी योग्य में नहीं, आपकी समृद्धि मन्त्रोंसे निरन्तर उसीमें निवास करूँगी ।

“अवश्य ! तुम्हारी यह कामना दीप्त ही पूरी करूँगा, विश्वास रखो । हम दोनों, इस जीवन में ही नहीं मरेंगे—इनके तक, उसी में निरवास करेंगे । विश्व सुन्दरी लालसा का अवन ऐसा

गीतत ग्योस्ना, मंद-मुरझिन् वायु, द्रामाकेन का उन्मादकारी प्रभाव
घोर प्रेक्षी को मृणाल बाहुओं का सुगदबंधन । इन सबनेन रेन को
पात्य-विमोर कर दिया था । उनका प्रणयी हृदय, बागना निप्ल
मन, सहज विस्वासी स्वभाव, निश्चिन्त उदारता घोर महमा प्रवर्ती
युवनी मनोकृति इस समय एक साथ उन्हें प्रेरित कर रहे थे—
“लालसा के लिए कुछ तो करो !”

अन्तर्भन की इसप्रेरणा की अवहेलना सम्भव नहीं थी । लालसा
की तूनि को जानने हुए भी नरेश ने फिर कहा—“तो भी अपनी
कोई कामना बनाओ । मैं बचन देना हूँ”—उन्होंने अपने वक्ष पर
हाथ रखा—“यदि घरा से स्वर्ग तक वही भी तुम्हारी अभीक्षिप्त
वस्तु का अस्तित्व होगा तो उसे लाकर तुम्हें अर्पित करूँगा । बोलो,
क्या इच्छा है ?”

“मेरे स्वामी ! ...”

“हाँ, हाँ बताओ न ! मैं तो स्वयं उसी की प्रतीक्षा कर रहा
हूँ ।”

अलस भाव से झेंगड़ाई लेकर, अर्ध निमोलित नेत्रों से क्लान्ति
का भाव प्रदर्शित करते हुए लालसा ने एक बार तर्जनी से महाराज
का अघर स्पर्श किया; फिर बोली—“मुझे आपने विश्व सुन्दरी
बनाया है । यह गौरव सत्तार में एकमात्र मुझे ही प्राप्त है । तो,
चाहता हूँ कि मेरे लिए एक ऐसा भवन बनवाइए, जो अपनी
सुन्दरता में विश्व का प्रथम और अंतिम हो । मेरे रूप और आपके प्रेम
का यह स्मारक जब तक रहेगा, मैं किसी भी योनि में रहूँ, आपकी
स्मृति सज्जोये निरन्तर उसीमें निवास करूँगी ।”

“अवश्य ! तुम्हारी यह कामना शीघ्र ही पूरी करूँगा,
विश्राम रखो । हम दोनों, इस जीवन में ही नहीं, सदैव—अलस
तक, उसी में निश्वास करेंगे । विश्व सुन्दरी लालसा का भवन ऐसा

॥ जिसकी समस्त विभीषण मे ली मरदा ॥ ...
 दया दुःख। यह बात तो ही तुम्हारी दयावादा मे मर जायदा ॥
 दान दान कथन की पुष्टि के लिए दोनो प्रसंगी एक दूसरे के
 ॥॥ पर दान समस्त का विभू धरित करने लगे ।
 दानधन अथवा दान भी विभू रत्न का दोर नही की दान
 'न दान' दोनो दान न । पर धरित जा रही थी ।
 नरेन न धरितो दान । पर दोनो का नरेन दान । मोभी ने
 नाना सुमाई दोर मोर नर की दोर मरने लगी ।

जीवन मरणा का सुचचार
 मोठी का साधनरत दानभीर दान । दान के जीवन धरित
 धरितारी दोर मरणात्त सुपावर देव देव स्मारक-निर्माण की
 मोरना पर विचार कर रहे थे । पर प्रचार का विमोक्षण मोरना
 लाना हुआ था । मरनी रानदन का कथन था --

"मरणात्त" । कोणाधिकारी दान प्रभुन विवरण मे ऐसा
 धाभाग मिलता है कि दान समस्त राजकोष मे वर्गीकृत नही है ।
 स्मारक निर्माण मे विशेषज्ञो ने ऐसी रूप देता बनाई थी उसके
 अनुसार नम मे नम गान करोह मुद्राये प्रतिक्रियां दान होंगी और
 स्मारक पूरा होने मे जीवन धन दानधन नम जायेंगे । दानधन मे
 ही तीन करोह की धनराशि दान हो चुकी है । धन: राजकोष की
 पुष्टि का प्रयत्न करने होना चाहिए, दानधन स्मारक-निर्माण मे
 होना धन निधिपन है ।"

गो ममूड करने के उपायों पर विचार होने लगा तो
 नाइय मे सुभाष दिया—"महाराज ! या तो प्रजा
 करने के लिए विवश किया जाय, या फिर दास-
 नम कर दिया जाए । और भी एक विवरण है—नर

मुद्रायें प्रचलित कर दी जायें ।”

सेनापति नागपाल ने इसका प्रतिरोध करने हुए कहा — “यह तीनों विकल्प व्यावहारिकता के विरोधी और सर्वथा एकामी हैं । इनका प्रभाव राजसभा की प्रतिष्ठा पर हानिकर रूप में पड़ेगा । मेरी तो सम्मति है—किसी राज्य को अपने अधीन कर लिया जाय तो घन-जन की सारी समस्या मुलभ जायगी ।”

महाराज ने देखा—मन्त्री जी नागपाल की वीरदपोंक्ति का विरोध कर रहे हैं—“अवारण युद्ध का आह्वान बुद्धिमत्ता नहीं बही जायगी ।”

नागपाल का मनोबल और उत्साह यथावत् रहा । उसने बिना तनिक भी कूटित हुए उत्तर दिया—“मन्त्रीवर युद्ध तो राजाघो का धर्म है, व्यसन है दिनचर्या है । फिर, राज्य विस्तार के लिए, राज-कोष की वृद्धि के लिए तो वह शास्त्र मंगल है । आप स्वयं कहा करते हैं—‘तुष्येन्न राजा घनमघयेन ।’ तब किसी प्रकार के मनो-मयन की क्या आवश्यकता ? महाराज आप धाता दीजिए, मागपाल विजय थी सावर आपकं चरणों में प्रम्नून कर देगा ।’ बहने-कटन अदम्य उत्साह और अटिग आत्मविश्वास से उसके नेत्र प्रज्वलित हो उठे, लूणीर बसममाने लगा और हाथ खन खदग की मूट पर जा पड़ा ।

“घन्य हो वीरवर ! मैं तुम्हारे साथ ही तुम्हारी राजध्वज की और तुम्हारी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा कहूँगा । आघो मरी स्वीकृति है—सेना सज्जन करो । मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा ।

राज-भर में ही युद्ध का आयोजन । सभासद बर्बन रह गए । एक घण्टा तक—जैसी भावना उनको बसत करने लगी—यन्त्र मरी युद्ध किसके साथ हो और उसका क्या परिणाम हो ?”

मन्त्री ने कहा—“महाराज ! क्या यह उचित होगा कि

सोग भी उम राज्य का नाम जान लें, जिनके विश्व हमें शंखनाद करना है। जिनमें, कभी उम देग का कोई गुणचर हममें छन न कर सके।”

महाराज ने नागपाल से पूछा—“सेनापति हमें कहीं के लिए प्रस्थान करना होगा ? किसी राजधानी को लक्ष्य बनाया ?”

“महाराज ! सबसे निकट मालव ही एक ऐसा राज्य है जो जनशक्ति में कम और धन शक्ति में सर्वाधिक है। मैं उसी पर आक्रमण करने की आज्ञा चाहूँगा।”

“मालव ? तो क्या मालव नरेग की शक्ति से परिचित हो ?”
नरेग मुधाकर देव ने सेनापति से पूछा।

“महाराज !”—नागपाल बोला—“शक्ति का परिचय युद्ध-क्षेत्र में होता है। आप निर्वृन्द मन से मुझे जाने की आज्ञा दें। काश्मीर की विजय-पताका मालव राजधानी में अवश्य लहरायेगी।”

“ठीक है। चलो, मैं भी युद्ध में चलूँगा। जाकर इसी समय सैन्य-व्यवस्था आरम्भ कर दो। परमों प्रभात में प्रस्थान करेंगे।”

नागपाल ने नतशिर होकर आज्ञा स्वीकार की और अन्य सभ्य गण भी इसी को उचित-निश्चित समझकर अपने-अपने स्थान की ओर चल पड़े।

नागपाल सैनिक केन्द्र की ओर चला और महाराज घन्टपुर की ओर। उनका विचार था—“इस बार युद्ध में सालसा की भी सहाय रलूँगा। मेरा मनोबल अक्षुण्ण रखने में वह सहायक सिद्ध है।”

घनघोर युद्ध हुआ। बीर मालवों ने ग्यारह दिन तक शत्रुसेना

का गगन सीमा पर ही अकस्मात् गगा । दोनों दलों के अगणित मूर-
 खीर मारे गये । रक्त की याग बह बर्षा । घोंघाघों घोर हावी-
 घोड़ी के विच्छिन्न घंटों पर गीघ-कृणो का कोलाहल, पगलाघी
 घाहों का चीकार युद्ध मोचुनों की गर्जना घोर विभिन्न प्रकार
 के अन्न-अम्बो की अयकर ध्वनि ने आनादरण को अत्यधिक गौड-
 बीमम् रूप दे दिया था । उम मृत्युक्षेत्र में पिनाचों की भीति
 उमन जैसे सदृश वीरों का शीर्ष देगकर जय पगत्रय का निदचय
 करना कठिन हो गया था । मानव बाहिनी कम होकर भी मगवन
 घोर कृणन थी । काश्मीर-जेना उमकी अपेक्षा शिष्यन घोर अन्न-
 ध्वन होती जा रही थी । फिर भी वह युद्ध गग थी, क्योंकि सेनापति
 नागपाल घोर महाराज मुषाकर देव दुर्घर्ष रूप धारण किये हुए,
 धूम-धूमकर उसे नियन्त्रित कर रहे थे ।

बारहवें दिन का युद्ध अत्यन्त भयकर था । नागपाल ने अपने
 बन-कोणन से मालव सीमा का घेरा लोड दिया और रक्षापक्ति का
 अतिरमण करके अपनी सेना को राजधानी की प्राचीर तक पहुँचा ले
 गया । नरेण मुषाकर देव उमके इस अदम्य वेग और अद्भुत परा-
 जय से बहुत प्रमत्त हुए । उसकी रक्षा के लिए वे छाया की भीति
 साय-साय चल रहे थे और उनकी छाया का अनुगमन कर रही थी
 नानसा वह सदैव रथ पर बैठी अपने प्रियतम की विजय-कामना
 करती रहती थी ।

काश्मीर सेना का प्रवेश मालवो को पद दलन जैसा दुखद और
 अपमानजनक प्रतीत हुआ । वे क्षुब्ध हो उठे । प्राणो का मोह न
 जाने कहीं चला गया ? तन-मन से विजय वरण के लिए कटिबद्ध
 हो गए । दोनों सेनाओं का स्वाभिमान अपनी रक्षा में प्राणपण से
 तत्पर हो गया ।

काश्मीर-जेना सोच रही थी—इतनी दूर से आकर और

सीमा को छूने-छूते भी यदि विजय न मिले, तो हमें चिक्कार है।

और, मानव सेनापति हुंकार रहा था—‘दूमरे राज्य के सैनिक हमारे घर के भीतर घाकर हमें परास्त कर दें, तो मालव धरती रमातल को चली जायेगी। इतना बड़ा वक्तक हम नहीं महन करेंगे।’

दोनों दलों के सैनिक काल की भांति क्रुद्ध होकर एक दूसरे पर टूट पड़े। अब उनके हाथ और अस्त्र-शस्त्र ही नहीं, मन-मस्तिष्क भी युद्ध रत हो गए थे। क्योंकि प्रश्न जय-पराजय का नहीं, स्वत्व और सम्मान का था। वंश-गौरव की रक्षा के लिए वे अपने रक्त को तुच्छ समझकर, परस्पर प्रहार करने लगे। उनको चिंता थी तो अपनी माँ के दूध की, अपने राज्य की स्वतन्त्रता की और अक्षय-कीर्ति के वरण की।

जैसे ही युद्ध आरम्भ हुआ, वंग और व्यवस्था का प्रतिबंध टूट गया। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल के सारे समूह एक दूसरे में समा गए। प्रलय का सा वह युगान्तकारी दृश्य काश्मीर और मालव दोनों सेनाओं के लिए अश्रुतपूर्व था। आकाश में धूल और धरती पर रक्त। युद्ध क्षेत्र का कोलाहल दैत्यों को भी रोमांचित कर देने वाला था। सर्वत्र चीत्कार, लाछन, प्रोत्साहन, खट्-खट्, और धायें-धायें।

दिन भर यही स्थिति रही। दोनों पक्ष क्रमशः प्रबलतर होते-होते। निर्णय संदिग्ध हो गया था। मध्याह्न बेला पार हो गई। दोपहर बीत चला और चौथा भी अपनी सीमा की ओर लगा। मालव वीर अदम्य वंग से लड़ रहे थे और उन्हें परास्त करने का मनोरथ-प्रयास कर रही थी। समय निकट देखकर दोनों पक्ष और भी अधिक रक्त-हो उठे थे। वे तुरन्त और निश्चित परिणाम के लिए

इतने उन्मुक्त थे कि क्षण-विक्षण होकर भी, सामर्थ्य बिगड़ नहीं दिगता रहे थे ।

टीक दिनान्त के समय रघुनाथ महाराज गुफावर देव देता—मेनापति नामधारी के कण्ठभाग में एक बाण धाकर पं गया है । जैसे ही वह 'घाह' बरके निधिन होता है दूमरा बा उमके मुँह में धार-धार प्रविष्ट हो जाता है । अगस्त वेदना धातुन नामधारी धराभाषी हो गया है और उन्मत्त अद्वारोहि के पदाधान से उमकी निर्जीव बाया छिन्न-भिन्न हो गई । बाधवीर मेना, नायक के धभाव में पलायन करने लगी है । मानव-दल विजय-भवं से हुँकार करता हुआ मुझे धरने के नि मन्द है ।

इम रोमांचकारी दृश्य ने उनका सारा मनोबल भग कर दिा नामपाल उनका सेवक, सैनिक मत्री और मित्र सब कुछ उसी के बल पर इतने निश्चिन्त-निर्द्वन्द्व रहने थे । उसकी मृत उन्हें पगु कर दिया । भासा और उत्साह क्षीण हो गया । बला और धानका ने उन्हें मलिन कर दिया । विजय की धाका निर्जीव हो गई । सामने मालव दल हुँकार रहा था । आत्मरक्ष के लिए पनायन के अतिरिक्त दूसरा विकल्प नहीं था । घूम पीछे बंटी लालसा की ओर देखा और पूछा—

“मव ?”

मुद का वह बीभत्स और भयकर दृश्य लालसा के जीवन का पहला अनुभव था । नामपाल की दाहण मृत्यु देखते वह धोक और भय के कारण इतनी व्याकुल हो गई थी कि उस तक विकृत हो गया था । सारी कान्ति, सारी थी न जाने । बली गई थी । उसका मुख इतना निस्तेज और पाण्डु हो गया जैसे किसी यक्षप्रस्त बेर्या का शव हो । महाराज के प्रश्न

घाने की सिंगी प्रहार मदन काँके पर बँसल डाना ही बर
 गयी—“हे भगवान् !” और घागन्धों के गहारे मुड़न गयीं ।

गारी शक्ति मगाकर गुफातर देव ने रूप घाने बढ़ाने का
 प्रयाग किया । विजय की घाना नहीं थी, फिर भी बर भागना
 गयी घागने थे । दूर गम्भिर भी नहीं था, पारो घोर में मानवों
 में उन्हें पकड़ने में पैसा दिया था । मर दनादन का बन्धक क्यों
 गो ? जीवन की गारी घागाघों घोर घागाघाघों को बिदा करने
 हुए उन्होंने मृत्यु का घाहान किया और घनिष्ठ प्रयाग के रूप
 में घागी मेधा को समझाने लगे—“मेरे घोगे ! घाँसे की घोर
 मर देंगे ! उपर पराक्रम है, घृणा है । घाने बड़ो ! वहाँ मृत्यु है,
 सिन्धु विजय का गौरव भी है । काश्मीर को बन्धन न करना ।
 युद्ध क्षेत्र की मृत्यु तो विजय से भी श्रेष्ठ होती है । धनो, इनो का
 धरण करो ।” और स्वयं अपने रूप को घोडा-मा घाने बड़ा दिया ।

सैनिक यह सारी घेष्टा व्यर्थ थी । ठीक सूर्यास्त के समय
 मातवों ने उन्हें पकड़ लिया । सातमा भी उन्हीं के साथ बन्दिनी
 बनाई गई । मेना का साहस, नागपाल के साथ ही ममाप्य हो चुका
 था । अपने महाराज को बन्दी होने देतकर वह हताश हो गई । कुछ
 सैनिक भाग गए, कुछ ने आत्म-मर्दण कर दिया । ठीक गौधूनि-
 वेला में मालव सेनापति, विजय-दोष करता हुआ राजधानी की
 घोर लौटा; जहाँ नागरिकों का समूह जयजयकार करता हुआ
 उराकी प्रतीक्षा कर रहा था ।

उस रात—

-मालव सेनापति सोच रहा था—अब एकाएक कोई मेरी
 को छूने की कल्पना नहीं करेगा । काश्मीर सेना की
 घातकित करती रहेगी ।

क्षेत्र में बन्दी हुए काश्मीर सैनिक सोच रहे थे—न जाने

किसने हमारे महाराज को इस युद्ध के लिए प्रेरित कर दिया ? वे तो सदैव ध्यानन्द-विहार में मग्न रहने वाले थे ! इस नर-संहार और पराजय का बर्त्सक प्रस्तुत करने में, निश्चय ही किसी का पङ्कज रहा होगा ।

युद्ध-क्षेत्र में नागपाल का प्रेत घपने बिखरे हुए अस्थिपत्र के चारों ओर भँडराना हुआ मिर घुन रहा था—आह ! कैसा विडम्बनामय अन्त हुआ मेरा ! महाराज मेरे बाहुबल पर निर्दिचन्त रहने थे; पर मैं इस युद्ध में उन्हें विजय-गौरव न दे सका । मेरी मृत्यु के पीछे, न जाने क्यों, महाराज तनिक देर भी ध्यात्मरक्षा न कर सके । और महारानी भी बन्दिनी हुई । आह ! जिन महारानी की कामना पूर्ति के लिए महाराज ने यह युद्ध ठाना, वे भी लक्ष्मणों के शीशों में पड़ी हैं । बाल ! सचमुच तू बड़ा प्रबल है । मेरे विधान के विपरीत कोई नहीं जा सकता ।

और,

मानव-नैतिकों से घिरे हुए, बन्दी-तिथि में बाधों के नगर महाराज सुधाकर देव अपनी प्रियतमा लालसा को अकथ्य विष, विचार मग्न थे—हा हन्त ! क्या प्रेम का प्रदान का घोर कामनाओं का यही अन्त होता है ? मर प्रति क्या तुम यही समझो या ? दुर्दैव ! तुममें दुर्बली दीखी क्यों है ? क्या मानव राज्य का महारथ लालसा की लालसा से भी अधिक् था । निश्चय ही तू अन्धारी है । मसार का साग अतिशय साग विराध एक मात्र मेरी दुर्नीति के कारण ही होता है । कुछ भी हा तू मुझ पराजित नहीं कर सारा । लालसा ही मेरे जीवन का महारथ घोर अंधारी । वह मेरे पास है, तब तुम्हें कोई अभाव नहीं । मरणा भी ना उन्माद ध्यानिगत में । उन्होंने भावावेश में, लालसा का बिबुध उद्गार । वह बिम्बा और क्वालि के कारण, अतिशय शक्तिशाली भाव से पड़ी की ।

धनगार्द, धनमुंदी भांगों से एक बार दीपक के क्षीण प्रकाश में, शिविर की ओर देगा; फिर पूर्ववत् शान्त हो गई।

महाराज ने एक दीर्घ निःश्वाम छोड़ा—आह! कितनी करुण, कितनी दयनीय दशा है आज इसकी! संध्या तक जो, विश्वमुन्दरी और काश्मीर-महिषी थी, इस समय युद्ध-चिन्दिनी होकर, शत्रु शिविर में पड़ी हुई है!

धनगार्द ने उन्हें विह्वल कर दिया। न जाने कहीं का वैराग्य और मोह उनके मानस को भँभोड़ने लगा। एक क्षण को उन्होंने लालसा की ओर अप्रतक दृष्टि से देखा; फिर न जाने किम प्रेरणा से उसके अघरो को चूम लिया।

लालसा ने भाँगे सोल दी। देखा—महाराज के अघर प्रणय-सन्देश—रुदाचित् अन्तिम सन्देश—कह रहे हैं, इस अकल्पित विपत्ति में भी उनका प्रणय-भाव मलिन नहीं हुआ। उनके नेत्रों से अब भी वही अनुराग और विश्वास झँक रहा है।

जैसे निर्वाण के पूर्व दीपक की लौ प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार अस्तोमुख लालसा ने परम-विह्वल होकर कहा—“स्वामी!” और, महाराज को अपनी बाँहों में बाँध लिया।

शोक और मोह, खेद और सन्तोष तथा जय और पराजय से अभिभूत नरेश सुधाकर देव की विचार शक्ति ने, फिर साथ नहीं दिया। लालसा का सम्बोधन सुनते ही उनका विलासाकुल मन अधीर हो उठा। उन्होंने सारी चिन्ता, सारा पश्चात्ताप भुलाकर लालसा को उठाकर वक्षस्थल कर लिया और अघर-सम्पुटन के द्वारा उसमें लदाकार होने का प्रयास करने लगे।

शिविर के बाहर, रक्षार्थ नियुक्त सैनिकों का दल परस्पर बातें कर रहा था। वे लोग अपनी विजय और काश्मीर की पराजय का उपहास किन शब्दों में कर रहे हैं; इसे न सुधाकर देव ने सुना, न

साससा ने । वे सर्वथा अचेत और निश्चिन्त, जैसे, अपनी प्रणय
 केलि में मग्न थे । शिविर के ऊपर पंख फड़फड़ाकर चीत्कार करते
 हुए निशापंक्षी का स्वर भी उन्हें प्रभावित नहीं कर सका । लगता
 था—अखिल विश्व का अस्तित्व सिमटकर उसी शिविर में आ
 गया है, और मृष्टि में केवल दो प्राणी शेष हैं—सुधाकर देव, और
 साससा ।

१५

गहक 'सारा सारा बीरसेन व एक बार मरने की ओर
देखा करेगा' । राजा दण्ड-मन्त्रणा करी ।

सेनपति ने कहा हा मरना । मरना मरना होकर बोला — 'मरना
ही मेरा मरना है ।'

— 'पारी दुर्गति की मरी उन्मिष्ट करी ।

मरने का भाव मरना ।

थोड़ी देर बाद सोनो ने देखा — दूसरी मगध मीनरी के घेरे
में, मोह भ्रमणाओं में घाबरा करती नदी की ओर उनकी विपत्ति,
नगे गीतों से घेरा रहे हैं । उनका रात्रि के अन्धकार में
गया है । घाबराओं में घाबरा रहे जाने उनके शरीर साधारण
मनुष्यों की भाँति दो-दो पक्षों में डके हुए हैं, यम ! मृग मनिन है,
काँति नष्ट हो गई है, मगध पर बिना की रेखाओं उभरी हुई है
घोर नेत्र इतने निम्न हो गए हैं, जैसे उनसे बडकर निराश्रित और
मनाय अश्वि समार में दूतरा नहीं है ।

राजा बीरसेन जितने बीर और स्वाभिमान थे, उतने ही गोपी
भी । द्वेष का भाव उनमें प्रबल था । उन्हें स्मरण हुआ—बारह वर्ष
पूर्व इन्हीं मुधाकर देव ने तक्षशिला में मुझे अश्वारोहण में परास्त
कराया । कहा था । आज बताऊँगा कि कामर कैसा होता है !

ने सभासदों को सम्बोधित करके कहा—

“यद्यपि एक राजा को दूसरे के साथ समानता का व्यवहार करना चाहिए। मतभेद होते हुए भी उन्हें पारस्परिक प्रतिष्ठा एवं मुक्त-मुविधा का ध्यान रखना अनिवार्य है। किन्तु, काश्मीर राज्य वर्तमान घण्ट हो गया है। उसके शासक का विवेक नष्ट हो चुका हो। उसने राजनीति के नियमों का उल्लंघन किया है”।

सभासद साँस रोके सुन रहे थे।

वीरमेन ने धीमे कहा—“काश्मीर और मानव में इधर कोई मुद्द-वैमनस्य का वातावरण नहीं था, फिर भी अकारण ही ऐसा किया गया। हमारे सदस्यों में कटुता लाने का मूल धाराधारी काश्मीर-सेनापति नामगाल था। उसका अस्थि-पत्रर मुद्द-क्षेत्र में बिखरा पड़ा है। उसने साथ यह राजा मुधाकर देव भी अपनी लोभ-प्रवृत्ति के कारण सारे काश्मीर में कृम्यान्त है, धाराधारी भी हैं। मैं इनको राजोचित सम्मान प्रदान नहीं दे रहा कि उन्होंने अपनी वंश-प्रतिष्ठा को निवारित देकर एक दृष्टांत की कामना स्वीकार की है और स्वयं-भाव में उसके दर्शन पर दूसरे राजा की शक्ति भंग करने के लिए मन्त्रित हो गए हैं।

नरेश मुधाकर देव और मानवता की हृदय-रहित यह गई। भगवत् पर स्नेह-विन्दु भगवत् धारा और दर्शन पर बलिदान हो गई।

वीरमेन कह रहे थे—“ता मरी दाँट में लगा पतित और कृषिपानी धारित सारा ज्ञान योग्य नहीं है। काश्मीर का धारा-दण्डता है महाराज यदावत् जैसे विचारवान की। लोभ-क्षेत्र मुधाकर देव जैसे विलासी और दृष्टि-पत्रर की नहीं। एक धाराधारी शासक पर, अकारण ही सहसा मानव-वीर की हत्या का आरोप है; यह धाराधारी सभा के निगद-नृणा में हमारे दर्शन पर दृष्ट धारित करता है। साथ ही हमारी यह विचार-मुद्रा

पत्नी भी दण्डित होगी जो इसके पतन का मूल कारण रही है ।”

लोग रोमांचित हो उठे । कहाँ काश्मीर नरेश, कहाँ विश्व-
सुन्दरी और कहाँ मृत्यु-दण्ड ! किन्तु कोई क्या करता ? कर भी
तो नहीं सकता था ! सबके सब मौन भाव से आगामी क्षणों की
और उनमें होने वाली घटनाओं की कल्पना कर रहे थे ।

“सहदेव !” राजा वीरसेन का स्वर फिर गूँजा ।

“आज्ञा दीजिए महाराज !” सेनापति ने हाथ जोड़ दिये ।

“ले जाओ, इन दोनों अपराधियों के भार से मालव धरती
को मुक्त करो ।”

सहदेव ने मस्तक झुकाकर आज्ञा स्वीकार की और सैनिकों
को संकेत दिया—“चलो ।”

लौह शृंखलाएँ झनझना उठी । सैनिकों का घेरा द्वार की
और उन्मुख हुआ, निर्णय देकर राजा वीरसेन अन्तःपुर की ओर
चले गये । सभासदों में कुछ लोग सैनिकों के साथ चले, कुछ वहीं
बैठे, इस घटना पर टीका-टिप्पणी करते रहे । सुधाकर देव और
लालसा का मनोमयन समाप्त हो गया था । उन्हें न कोई खेद था,
न राग । अपने इस अपरिवर्तनीय अंत का आभास उन्हें पहले ही
हो गया था । अतः वे उसे वरण करने को सहर्ष प्रस्तुत थे । सैनिकों
के साथ निरुद्धे मन से चलते रहे ।

वधभूमि पहुँचकर सहदेव ने वधियों से कहा—“गर्त !” और
वधियों ने तत्क्षण दो गर्त बना दिये ।

दर्शक स्तब्ध थे ।

वधियों ने सेनापति की आज्ञानुसार दोनों गर्तों में सुधाकर देव
और लालसा को आकण्ठ गाड़ दिया । पर वे विचलित नहीं हुए ।

मुख पर इतनी शान्ति थी, जैसे कोई योगी समाधि में प्रवेश
रहा हो ।

राजा भी दण्डित होनी को इसके पक्ष का मूल बाल्य रही है।
 मोर शेरवर्धन भी उठे। बड़ी शान्तीर नरेन, बड़ी सित
 सुन्दरी धीर बगल कानु-दण्ड। विन्दु कोट बना बगल? कर न
 भी नही गहका था। मरहे सब मोर नार के धाराने धनो के
 धीर उनसे होने बानी पटगाधों की बल्लन कर रहे थे।

‘महदेव’ राजा शीमसेन का मर दिर हुआ।

“घाता दीक्षित नरागाध!” नेमराज ने हाथ जोड़ दिये।

‘मे’ जाघो, इन दोनों धर्मपाथियों के भार से मानव धर्तों
 को मुक्त करो।

महदेव ने मन्त्रक मुखाकर घाता स्वीकार की और सैनिकों
 को गवेन दिया—“बनो।”

लौह शृमन्तार्न नूननना उठी। सैनिकों का घेरा द्वार की
 धीर उन्मुख हुआ, निरांन देकर राजा वीरसेन धन्तपुर की ओर
 चले गये। गभानदों ने कुछ लोग सैनिकों के साथ चले, कुछ वहीं
 बैठे, इस घटना पर टीका-टिप्पणी करते रहे। मुझकर देव और
 सानसा का मनोमयन समाप्त हो गया था। उन्हें न कोई खेद था,
 न राग। अपने इन अपरिवर्तनीय अंत का आभास उन्हें पहले ही
 हो गया था। अतः वे उसे वरप करने को सह्य प्रस्तुत थे। सैनिकों
 के साथ निरुद्धे मन से चलते रहे।

वधभूमि पहुँचकर महदेव ने वधियों से कहा—“मर्त!” और
 वधियों ने तत्क्षण दो मर्त बना दिये।

दर्शक स्तब्ध थे।

वधियों ने सेनापति की आज्ञानुसार दोनों मर्तों में मुघाकर देव
 और सानसा को आकण्ठ गाड़ दिया। पर वे विचलित नहीं हुए।

मुख पर इतनी शान्ति थी, जैसे कोई योगी समाधि में प्रवेश
 हो।

